# रंगमंच और नाटक की भूमिका

लक्ष्मीनारायण लाल

# रंगमंच और नाटक की भूमिका

लक्ष्मीनारायण लाल

# रंगमंच ग्रौर नाटक
# की
# भूमिका

# रंगमंच और नाटक की भूमिका

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली

प्रथम संस्करण
दिसम्बर, १९६५



मूल्य : दस रुपये

प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
'चन्द्रलोक' जवाहरनगर, दिल्ली-७

बिक्री केन्द्र : नई सड़क, दिल्ली-६

मुद्रक : शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-३२

सुरेश अवस्थी को

# निवेदन

नाट्यकेन्द्र, स्कूल ऑफ ड्रेमिटिक आर्ट इलाहाबाद में अनवरत छः वर्षों तक नाटक और रंगमंच कला पर छात्रों और सहयोगियों के बीच अध्ययन, अध्यापन तथा व्यावहारिक नाट्य प्रस्तुतिकरण कार्य करते हुए जो किंचित उपलब्धि मुझे हुई है, उसके लिए मैं उसी महत् रंगकार्य को ही धन्यवाद दूंगा। परम श्रद्धेय पंत जी (श्री सुमित्रानन्दन पंत) उन दिनों मुझसे प्रायः कहा करते थे कि जितना जो जीवन को देगा, जीवन उसका कई गुना उसे देगा।

प्रस्तुत पुस्तक उसी का एक दान है।

रंगमंच क्षेत्र से संबंधित सभी लोग बड़ी तीव्रता से यह अनुभव करते रहे हैं कि नाटक और रंगमंच जब तक हमारे जीवन का अंग नहीं बनता, तब तक इसका कोई व्यक्तित्व नहीं होता। इस दिशा में सर्वप्रथम इसका संबंध अनिवार्यतः हमारी शिक्षा से जुड़ना ही है। जहाँ से हम अपनी नई पीढ़ी को वे सारे रंग-संस्कार और नाट्य-मर्यादा दे सकें कि उनकी रुचि और सौन्दर्यबोध उचित रंगमंच के अनुकूल बन सके। पश्चिम में 'युनिवर्सिटी थियेटर्स' की अपनी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। ये एक ओर देश के रंगमंच-आन्दोलन को उचित दिशा देते हैं, तो दूसरी ओर इनसे उस भाषा के नाटक और रंगमंच को, गंभीर अध्ययन और अध्यापन स्तर से एक पुष्ट और स्तरीय मर्यादा मिलती है।

यह सौभाग्य की बात है कि हिन्दी भाषा के अन्तर्गत इस महत् विषय का समारम्भ दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग ने अभी किया है। निश्चय ही इस दृष्टिपूर्ण योजना का सारा श्रेय प्रोफेसर डॉक्टर नगेन्द्र के मूल्यवान् व्यक्तित्व को है। इस दूरदर्शिता के लिए उनका नाम सदा स्मरणीय रहेगा।

प्रस्तुत पुस्तक मूलतः रंगमंच और नाटक की भूमिका है। इधर संस्कृत से लेकर मध्ययुग तक तथा उधर ग्रीक थियेटर से 'रेस्टोरेशन' तक। इस व्यापक और सम्पूर्ण भूमि के बीच से रंगमंच और नाटक के स्पष्ट व्यक्तित्व के अध्ययन का मैंने प्रयास किया है—ताकि दोनों विभिन्न रंगभूमियों, पूर्व और पश्चिम के आधुनिक रंगमंच के स्वरूप और प्रकृति का सहज अभिज्ञान हम आगे कर सकें।

प्रस्तुत पुस्तक में मूलरूप से रंगमंच की निश्चित अवधारणा पर विशेष बल दिया गया है। सारा अध्ययन, रंगमंच के ही परिप्रेक्ष्य में किया गया है। भारतवर्ष में, विशेषकर हिन्दी में नाटक का अध्ययन अभी तक केवल काव्य तथा साहित्य स्तर पर ही होता रहा है। इस कारण भी 'रंगमंच' की दृष्टि का अभाव सदा बना रहा है। इस तरह रंगमंच के व्यापक और गहन स्तर से ही इस पुस्तक की कल्पना तथा संरचना की गयी है।

पाश्चात्य देशों में प्राचीन और मध्ययुगीन नाटक, रंगमंचीय कार्यकलाप, नाट्य-प्रयोग का महत् अध्ययन उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक से ही 'रंगमंच' के परिप्रेक्ष्य में होने लगा था। भारतवर्ष में अनेक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक कारणों के फलस्वरूप इस रंगमंच-दृष्टि का सर्वथा अभाव बीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध तक रहा है। अपनी प्राचीन नाट्य-निधि तथा रंग-क्रिया-कलाप का रंगमंच के स्तर पर समुचित अध्ययन स्वातन्त्र्योत्तर भारतवर्ष की देन है। जबकि इस देश की चेतना प्राय: एक युग बाद गंभीर रूप से व्यावहारिक रंगमंच-क्षेत्र में कार्यरत हुई है। जबकि आधुनिक रंगमंच—अन्वेषण में स्वभावत: इस जागरण को (चेतना) अपनी प्राचीन, शास्त्रीय और लोक, पूर्व और पश्चिम—इस सब नाट्य-सामग्री तथा रंग-क्रियाकलापों के वास्तविक अध्ययन और उन सब में व्याप्त निश्चित रंगमंच के रूप तथा प्रकृति को समझने और ग्रहण करने की अपरिहार्य आवश्यकता पड़ी। इस संदर्भ में यह भी सच है, कि इस रंगमंच-अन्वेषण का कार्य वही कर सकता है जो व्यावहारिक रंगमंच में एक सजग, सचेत कार्यकर्ता के व्यक्तित्व को सतत जी रहा है। या जो उस महत् व्यक्तित्व को जीने की कामना करता है। वरना केवल बुद्धि द्वारा किसी भी देश, युग, प्रकृति के नाटक और रंगमंच को पूर्ण रूप से न समझा ही जा सकता है, न ग्रहण ही किया जा सकता है।

इस पुस्तक में जान-बूझकर नाटक से सम्बन्धित उन तथ्यों और पक्षों का विस्तृत अध्ययन नहीं किया गया है जिनका अध्ययन साहित्य और काव्यशास्त्र के स्तर से यहाँ पर्याप्त मात्रा में किया जा चुका है।

वास्तविक अर्थों में यह अध्ययन सम्पूर्ण होगा अपने आगामी भाग में आधुनिक रंगमंच के साथ।

यह पुस्तक यथाशीघ्र लिखने की प्रेरणा मुझे डॉक्टर विजयेन्द्र स्नातक ने दी। मैं उन्हें धन्यवाद देकर उस महत् क्षण का मूल्य नहीं घटाना चाहता।

इस पुस्तक-लेखन के पीछे प्रेरणास्वरूप उस अबाध इतिहास की मूकवाणी सदा कार्य करती रही है, जहाँ भारत और पश्चिम के अनेक विद्वानों ने इस क्षेत्र में अपनी अनेक उल्लेखनीय कृतियाँ प्रस्तुत की हैं।

वह सब ऋषि-ऋण मेरे माथे पर है।

साथ ही कुछ संस्थाओं—भारतीय नाट्य संघ, संगीतनाटक अकादमी, नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा, तथा मित्र—श्री नेमिचन्द्र जैन, रनबीर सिंह, गोविन्द विद्यार्थी के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अनेक स्तरों से इस पुस्तक में मेरी सहायता की है।

२६ अक्तूबर, १९६५
नयी दिल्ली

**—लक्ष्मीनारायण लाल**

# अनुक्रम

## दूसरा भाग

•

# चित्र-सूची

पाश्चात्य रंगमंच



●

रंगमंच और नाटक
की
भूमिका



# रंगमंच-प्रस्तावना

## पश्चिम का 'थियेटर' तथा भारत का 'नाट्य' और 'रंगमंच'

श्री भरत मुनि प्रणीत नाट्य-शास्त्र में 'नाट्य' शब्द का प्रयोग और व्यवहार बहुत ही व्यापक अर्थ में हुआ है, जिसकी अपनी मर्यादा और विशेष अर्थ-गौरव है। यहाँ 'नाट्य' से तात्पर्य केवल नाटक अथवा रंग से नहीं है, बल्कि इसके अन्तर्गत नाटक (कृति), रंग, वास्तु, अभिनय, रस, छन्द, नृत्य, संगीत, अलंकार, वेशभूषा, रंग-शिल्प, उपस्थापन, पात्र और दर्शक-समाज सब है—और इन सब का शास्त्र 'नाट्य-शास्त्र' है। नाट्य-शास्त्र के प्रथम अध्याय का एक सौ सोलहवाँ श्लोक इस स्थापना को स्वयं प्रमाणित करता है।

**न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।**
**नऽसौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्नदृश्यते ।।**

अर्थात् अध्ययन (श्रव्य एवं दृश्य) से प्राप्त किया ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, कोई शिल्प नहीं है, विद्या नहीं है, कला नहीं है, योग नहीं है, कर्म नहीं है, जो इस 'नाट्य' में न देखा जाता है।

पाश्चात्य नाट्य साहित्य में 'थियेटर' शब्द का व्यवहार और अर्थ-गौरव भी इस 'नाट्य' के अनुरूप है। वहाँ 'थियेटर' के अन्तर्गत, नाट्य-साहित्य, प्रस्तुतिकरण, अभिनय, उपस्थापन, रंग-शिल्प, रंगभवन, रंगशाला और नाट्यालोचन और इन सबका शास्त्र समाहित है।

ठीक इसी प्रकार संस्कृत में 'रंग' शब्द का भी अपना विशेष अर्थ-गौरव है। 'रंग' के अन्तर्गत रंगभूमि और रंगशाला, दोनों भाग एक ही में समाविष्ट हैं। विकृष्ट, चतुरस्र और त्रिकोण ये तीनों 'रंग' के प्रकार हैं। इन रंग-प्रकारों में विशद् रूप से रंगभूमि और रंगशाला के स्वरूपों का वर्णन मिलता है। विकृष्ट, चतुरस्र और त्रिकोण की रंगशाला में कितनी भूमि होनी चाहिये, उसका मानसार क्या हो, उसमें कितने अंग हों, किस वर्ग के दर्शक कहाँ और किस विधि से बैठेंगे—इन सबका सविस्तार वर्णन नाट्य-शास्त्र में मिलता है। इसी प्रकार, दूसरी ओर, इन तीनों प्रकार के 'रंगों' में 'रंगभूमि' का स्वरूप

क्या हो, इसके कितने भाग, किस माप से रखे जाएँ श्रौर इसमें नेपथ्य, रंग-शीर्ष, रंग-पीठ, मत्तवारणी श्रौर यवनिका श्रादि की क्या स्थिति हो, इन सबका श्रत्यन्त वैज्ञानिक निदर्शन यहाँ मिलता है। वस्तुत: इसी को 'नाट्य' का वास्तु-शास्त्र कहा गया है।

पर 'नाट्य' शब्द की पश्चिम के 'थियेटर' शब्द के श्रनुरूप मर्यादा श्रौर इसका श्रर्थ-गौरव भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र काल तक ही सुदृढ़ रहा—ऐसा स्पष्ट प्रकट होता है।

क्योंकि श्रागे चलकर धनंजय ने 'दशरूपकम्' में—जो भरत के नाट्य-शास्त्र के रूपक विषयक सिद्धान्तों का सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत करता है, नाट्य-शास्त्र के 'नाट्य' की मर्यादा श्रौर उसके विशाल श्रर्थ-गौरव को केवल 'रूपक' के क्षेत्र में सीमित कर दिया है। फिर तो स्वभावत: 'नाट्य' को रूपक श्रथवा नाटक के ही श्रर्थ में ग्रहण कर लेना 'दशरूपकम्' के रचना-काल के बाद संस्कृत के समस्त नाट्य-शास्त्रियों श्रौर रस-शास्त्रियों के लिए सहज ही हो गया। क्योंकि तब नाट्य-शास्त्र को छोड़कर 'दशरूपकम्' ही बाद के नाट्य-शास्त्र तथा रस-शास्त्र के ग्रन्थों—प्रताप रुद्रीय, एकावली, साहित्य-दर्पण, नाट्य-दर्पण श्रौर रस-मंजरी श्रादि का उपजीव्य रहा।

लगता है कि कालान्तर में एक समय ऐसा श्राया कि 'नाट्य-शास्त्र' ही विलुप्त हो गया। भरत का नाम तो लोग लेते रहे, पर उन विद्वानों को नाट्य-शास्त्र के दर्शन न हो सके। श्राधुनिक युग में पश्चिम के श्रनेक स्वनामधन्य विद्वानों ने नाट्य-शास्त्र का श्रनुसंधान किया। इस तरह जो कुछ भी प्राप्त हुश्रा, उसका नये सिरे से सम्पादन श्रौर नव संस्करण हुश्रा। श्रौर जब इसके श्रनुवाद होने लगे तथा इसकी व्याख्यायें प्रस्तुत की गयीं, तब स्वभावत: 'नाट्य' शब्द का श्रनुवाद तथा श्रर्थबोध 'ड्रामा' से किया गया। फिर यही कार्य जब भारत के विद्वानों ने किया, तब उन्होंने भी 'नाट्य' का श्रनुवाद एवं भावग्रहण 'नाटक' से ही किया। श्रागे चलकर इससे यह श्रनर्थ हुश्रा कि पश्चिम के 'ड्रामा' श्रौर संस्कृत के 'नाटक' को एक ही भाव से देखना श्रथवा ग्रहण करना शुरू कर दिया गया। वर्तमान संदर्भ में ड्रामा शब्द का श्रनुवाद नाटक स्वीकार किया जा सकता है, पर 'ड्रामा', 'नाटक' (संस्कृत) का पर्याय हो जाय, यह दृष्टिकोण भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों नाट्य-धर्मिताश्रों, पद्धतियों तथा रंग-संस्कारों के विपरीत है। इससे सबसे बड़ा दोष श्रौर हानि यह हुई है कि श्राज नाटक का विद्यार्थी तथा रसभोगी, पूर्व-पश्चिम की नाट्य-संपत्ति को सही ढंग

से ग्रहण नहीं कर पाता है। मेरा विश्वास है, इस विरोधी प्रकार और विभिन्न धर्म की नाट्य-संपत्तियों के रस-ग्रहण एवं सही मूल्यांकन से वे विद्वान् ही वंचित रह गये जिन्होंने 'ड्रामा' और 'नाटक' का एक ही अर्थ लिया।

हिन्दू अथवा संस्कृत रंगमंच का नाटक 'शाकुंतलम्' है और पश्चिम का ड्रामा 'हेमलेट' है।

आगे चलकर हमारा सम्पर्क बहुत समीप से पाश्चात्य नाट्य-साहित्य से हुआ। पश्चिम का 'थियेटर' शब्द अपने उसी अर्थ-गौरव के साथ हमारे सामने आया। संयोग की बात है कि हिन्दी के सर्वप्रथम यशस्वी नाटककार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जिन्होंने अनेक मौलिक नाटक लिखे, संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी नाट्य-साहित्य से नाटक अनूदित किये तथा नाटक से सम्बन्धित अनेक लेख भी लिखे—विशेषकर 'योरोप में नाटकों का प्रचार' जैसे विषय पर; किन्तु उन्होंने भी इस व्यावहारिक दिशा में कुछ नहीं कहा। जो कुछ अपने लेखों में उन्होंने लिखा, वह एक ओर प्राचीन नाट्य-शास्त्र के कुछ नाटक-सम्बन्धी सामान्य नियम तथा टीका-स्तर से उनकी परिभाषायें हैं और दूसरी ओर भाषा नाटक और अंग्रेजी नाटक के इतिहास पर उनके अपने विचार हैं। पर कहीं भी भारतेन्दु जी ने न तो संस्कृत नाट्य-शास्त्र के 'नाट्य' शब्द के अर्थ-गौरव को ही पुनर्स्थापित किया, अथवा उसके लिये नया शब्द ही दिया, न तो अंग्रेजी के 'थियेटर' के स्तर से भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-साहित्य को ही देखा।

वस्तुतः यह दोष भारतेन्दुजी पर उतना आरोपित नहीं होना चाहिये—मूल दोष भारतीय समीक्षा-प्रणाली का रहा है। भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र के उपरान्त काव्य-क्षेत्र में एक-से-एक बड़े आचार्य अवतरित हुए, भामह, दण्डी, वामन, कुन्तल और पंडितराज जगन्नाथ, पर इनमें से एक भी आचार्य ने यह कृपा न की कि काव्य के ही अन्तर्गत मुख्य स्थान पाने वाले रूपक अथवा नाटक के 'नाट्य' सम्बन्धी सिद्धान्तों तथा रूपों पर वे अपनी महत लेखनी से समुचित प्रकाश डालें। फल यह हुआ कि नाट्य-शास्त्र में जो महत्वपूर्ण स्थापनाएँ नाटक के सम्बन्ध में थीं, उनको न आगे प्रकाश ही मिला, न उनकी संवृद्धि ही हुई। इसके स्थान पर भरत मुनि ने जिस रस-निष्पत्ति का विवेचन और उसकी स्थापना विशुद्ध रूपक अथवा नाटक के ही प्रसंग में की, और उन्होंने समूचे शास्त्र को अधिकांशतः 'नाट्य' के ही अन्तर्गत रखकर देखा, फिर भी बाद के आचार्यों ने काव्य-शास्त्र के उस विराट धरातल को बहुत ही सीमित कर दिया। रूपक और 'नाट्य' को तो जैसे आचार्यों ने भुला ही दिया। यद्यपि 'नाट्य-

शास्त्र' से ही प्राप्त प्रख्यात रस-सूत्र, 'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रस-निष्पत्तिः' अथवा काव्य-सूत्र को आगे विभिन्न सम्प्रदायों—अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि में बाँट दिया, और उनके अति सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन हुए, पर दुर्भाग्यवश मूल 'नाट्य' ही पीछे छोड़ दिया गया।

यह व्यवहारिक दृष्टि-भेद हमारे नाट्य-निर्माण में बहुत ही अमंगलकारी रहा है, और नाटक के समस्त पक्ष और आयाम, सृजन और विवेचन इन दोनों धरातलों से अविकसित ही रह गये, तथा दूसरी ओर हमारी समूची नाट्य-सम्पत्ति मूल्याँकन-विहीन रह गयी। फलतः हमारे आधुनिक नाट्य को वह महान बल और महती प्रेरणा उस स्तर से नहीं प्राप्त हो सकी जिस तरह आधुनिक पाश्चात्य 'थियेटर' अथवा 'नाट्य' को वहाँ की प्राचीन नाट्य-सम्पत्ति के वैज्ञानिक मूल्याँकन तथा दृष्टि से प्राप्त हुई है। हर देश का 'नाट्य' वहाँ की प्राचीन सम्पत्ति तथा ऐतिहासिक उपलब्धियों एवं परम्परागत मूल्यों के विकास-क्रम में नित-नूतन और समृद्धिशाली होता जा रहा है। बिना इसके किसी भी देश में, भाषा में जो नाट्य आन्दोलन होते हैं अथवा जो नाटक रचे जाते हैं, वे अपंग, शक्तिहीन एवं जारज रहकर नष्ट हो जाते हैं और भविष्य में उनसे कोई भी नाट्य-संस्थान विकसित नहीं हो पाता। हमारे आधुनिक 'नाट्य' आन्दोलन की शक्तिहीनता के पीछे इस सत्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

## थियेटर और रंगमंच

जयशंकर प्रसाद ने भी पश्चिम के अपने अर्थ-गौरवपूर्ण शब्द 'थियेटर' के लिये सम्भवतः 'रंगमंच' शब्द का प्रयोग नहीं किया।[1] इस शीर्षक के अन्तर्गत मुख्यतः रंगमंच से तात्पर्य रंगभूमि अर्थात् अंग्रेजी के स्टेज से ही लिया है—वे लिखते हैं, "रंगमंच में भी दो भाग होते थे। पिछले भाग को रंगशीर्ष कहते थे, और सबसे आगे का भाग रंगपीठ कहा जाता था।"[2] वस्तुतः रंगभूमि का यह विभेद नाट्य-शास्त्र के ही आधार पर है। परन्तु नाट्य-शास्त्र में कहीं भी इस तरह 'रंगमंच' शब्द का व्यवहार ही नहीं हुआ है और मुख्यतः 'स्टेज' के संदर्भ में, यह तो असंभव ही है।

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' के अन्तर्गत, अनुक्रम में छठा निबंध, 'रंगमंच' पृ० ९२। भारती भण्डार, पंचम संस्करण।

२. 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' के अन्तर्गत अनुक्रम में छठा निबंध, 'रंगमंच' पृष्ठ ९४। भारती भण्डार, पंचम संस्करण।

लगता है कि, पश्चिम के 'थियेटर' शब्द से यहाँ के विद्वानों ने उसके केवल एक ही पक्ष—भवन, मंच अथवा 'स्टेज' को ही लिया, अर्थात् थियेटर के वास्तु पक्ष को। शेष पक्षों का भाव-ग्रहण हो ही नहीं सका। इसी लिए 'थियेटर' के पर्याय 'रंगमंच' को भी लोगों ने स्वभावत: वास्तु-स्तर से ही लिया।

परिप्रेक्ष्य की यह निर्मम दुर्घटना ठीक उसी प्रकार हुई, जैसे संस्कृत समीक्षा क्षेत्र में नाट्य-शास्त्र के प्रति हुई है। 'नाट्य' के गौरव-पूर्ण क्षेत्र और आयाम में, 'थियेटर' के ही सदृश, उसी अर्थ-गौरव के समान, नाटक, रंगभवन, रंग-शिल्प, अभिनय आदि सभी पक्ष समाहित थे, पर आगे के लोगों ने 'नाट्य' को केवल नाटक (नाट्य के केवल एक अंग अथवा पक्ष) के ही स्तर पर विघटित कर लिया।

'थियेटर' के लिये 'रंगमंच' बहुत उपयुक्त शब्द नहीं है पर इससे क्या। 'थियेटर' से भी अधिक उपयुक्त, गौरव-पूर्ण शब्द जब 'नाट्य' को हमने अपनी सीमाओं से नष्ट कर लिया, तो फिर शब्द विशेष का उतना महत्व नहीं रह जाता। वस्तुत: महत्व है शब्द के पीछे अवधारणा, भाव-बोध, अर्थ-बोध और इससे भी अधिक उसके प्रति कृतसंकल्प होने का, उसे कर्म और दर्शन की दृष्टि से देखने का।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त हम समान स्तर से पश्चिम के सम्पर्क में आये। हमने अपने आपको गौरव देने के साथ ही स्वभावत: अपने व्यवहृत शब्दों को भी नया अर्थ-गौरव दिया। 'रंगमंच' को हमने 'थियेटर' के ही परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करना प्रारम्भ किया है। अब हम 'नाट्य-शास्त्र' में व्यवहृत 'नाट्य' के ही अर्थ-गौरव के अनुरूप कहने लगे हैं—संस्कृत रंगमंच (Hindu Theatre), आधुनिक रंगमंच (Modern Theatre), 'रंगमंचीय आन्दोलन'। 'रंगमंच : एक स्वायत्त कलासंस्था'। 'रंगमंच : एक आदिम परम्परा'। 'रंगमंच : पूरी सामाजिकता की अबाध धारा'। 'रंगमंच : आत्मदान'। ग्रीक थियेटर, ब्रिटिश थियेटर, थियेटर ऑफ शेक्सपियर के ही अर्थ-गौरव और ठीक उसी परिप्रेक्ष्य में आज हमने 'रंगमंच' को देखना शुरू किया है—'प्रसाद का रंगमंच', 'बंगला और मराठी रंगमंच तथा भारतीय रंगमंच'। दूसरे संदर्भ में रंगमंच का अर्थ और भी व्यापक हो जाता है, जैसे 'हिन्दू रंगमंच', 'ग्रीक थियेटर' और 'मास्को आर्ट थियेटर'। यहाँ 'हिन्दू रंगमंच' के अर्थबोध में एक ओर संस्कृत का समस्त नाट्य-साहित्य, नाट्य-शास्त्र है, दूसरी ओर उसमें व्याप्त और प्रतिपादित मंच-स्वरूप और प्रस्तुतिकरण का समूचा भावचित्र है। अभिनय और रंग-शिल्प

का सम्पूर्ण सत्य है। तीसरी ओर उसमें समूचा युग-मन है, उसकी कला-रुचि, आनन्द-भोग का स्तर और उसकी विलास-भूमियाँ हैं। अर्थात् उस समूचे युग के नाटककार, अभिनेता, प्रस्तुतकर्ता, निर्देशक, सूत्रधार और सामाजिक-रसभोगी और उनके देश-काल, सभी कुछ यहाँ समन्वित है।

इसी प्रकार 'ग्रीक थियेटर' से भावबोध है—यूनान के समूचे समाज के देवता डायोनिसस का पूजा-समारोह, उनकी धार्मिक स्फूर्ति और उल्लास का प्रतीक। 'एथेन्स' और 'ऐटिका' के नर-नारियों का जीवन और उनकी दिव्य धार्मिक भावना, जिसने ऐक्रोपोलिस के चरणों में अर्ध-वृत्ताकार, उन्मुक्त खुली हुई, पत्थर की रंगभूमि बनाई थी, 'थियेटर ऑफ डायोनिसस'। उसके नाटकार, एस्किलस, सोफोक्लीज, इयुरिपिडस और एरिस्टोफेन्स। नाट्य-अनुष्ठान-विधि, समूहगान, मुखौटे और उनके नृत्य-संगीत। नाट्य-शास्त्री, अरस्तू और अभिनेता 'थेसिपिस'।

जीवन-गत रंगमंच का एक आध्यात्मिक पक्ष भी है। हम कहते आये हैं, जीवन रंगमंच है। हम इसमें अपनी पात्रता भोगकर, समय को प्रदर्शितकर प्रस्थान कर जाते हैं। हम जीवन-अभिनेता हैं। हम जीवन और काल-रूपी रंग-भूमि में प्रवेशकर राग-विराग, सुख-दुःख, सत-असत्, कुरूपता एवं विराट सौन्दर्य के साक्षी बनते हैं, और अपनी गति से काल को भी विमोहित कर ले जाते हैं—

**रंगभूमि जब सिय पगु धारी।**
**देखि रूप मोहे नर-नारी॥**
**भूपन सकल सुदेश सुहाये।**
**अंग अंग रचि सखिन्ह बनाये॥**
**हरिषि सुरन्ह दुन्दुभी बजायी।**
**बरसि प्रसून अपछरा गायी॥**

यह एक जीवन-व्याप्त, सम्पूर्ण और चिरन्तन रंगमंच की झाँकी है। नाट्य, रंगभूमि, अभिनय, रंग-शिल्प, अंग-रचना, रूप-सज्जा, गीत-संगीत, विमोहित नर-नारी रूपी प्रेक्षक वर्ग—सब कुछ तो है यहाँ, रंगमंच के सभी आयाम, सभी पक्ष।

अर्थ-गौरव के इस श्रीगणेश के साथ, यह अत्यावश्यक है कि हमारी पीढ़ी और भावी पीढ़ियों को रंगमंच की सम्पूर्ण दृष्टि, और अर्थबोध—तात्विक एवं व्यवहारिक दोनों स्तरों से प्राप्त हो।

आज यह बात नहीं है कि रंगमंच नवोन्मेष में सभी लोग इस 'रंगमंच' को सही ढंग से ही ले रहे हैं—अधिकांशतः लोग यही नहीं समझ पाये हैं कि रंग-मंच क्या है? आज भी लोग रंगमंच को भवन और स्टेज के ही अर्थ में लेते हैं, मनोरंजन अथवा अतिरिक्त कार्यकलाप के ही रूप में। यह हमारे लिये आश्चर्य और दुःख की बात नहीं है। हमने अभी-अभी तो नाटक को, उसकी कुछ वांछित

मर्यादा देनी प्रारम्भ की है। रंगमंच की अपनी अतुल गरिमा है। इसे हमने अभी (फिर से) ग्रहण किया है। इसलिये यह स्वाभाविक ही है कि रंगमंच के प्रति जो निम्न धारणायें, कुप्रवृत्तियाँ और कुसंस्कार आज से पहले समाज में व्याप्त थे, विरासत के रूप में स्वाभावतः आज के रंगमंच को वे भी मिल गए हैं। मेरा विश्वास है, रंगमंच को नव संस्कार, नव अर्थ और उसका स्वायत्त भाव मिलते ही हमारी रंगमंच-विषयक दृष्टि परिवर्तित हो वास्तविक और सम्पूर्ण रंगमंच भाव से गरिमापूर्ण हो जायेगी।

बड़ा दुःख और आश्चर्य पश्चिम में कुछ परम विख्यात देशों के रंगमंच विषयक दृष्टिकोण के विघटन पर अवश्य है।

'फ्रान्सिस फरगूसन' ने अपने अति महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'द आइडिया ऑफ थियेटर' की भूमिका में[१] इस बात की ओर बहुत ही विद्वत्तापूर्ण एवं सशक्त ढंग से संकेत किया है, जिसमें पश्चात्ताप के साथ-ही-साथ इस तथ्य की ओर परम आशंका प्रकट की गई है कि 'ब्राडवे' अथवा 'हॉलीवुड' का समाज 'थियेटर' के वास्तविक धर्म, मूल धर्म और गौरव की भावना से दूर न हो जाय, नहीं तो हम संसार के नाट्य-साहित्य के आनन्द और विराट धारा से ही विछिन्न हो जायेंगे।

वस्तुतः काव्य एवं कला के महत दृष्टिकोण के स्तर पर यह सार्वदेशिक विघटन आज के समसामयिक जीवन की सांस्कृतिक दुर्घटना है। भारतीय रंगमंच का, विशेषकर हिन्दी राष्ट्रीय रंगमंच का पुनरुत्थान-कार्य, भावों के ऐसे ही संक्रमण काल में प्रारम्भ हुआ है, अतएव यहाँ पूरी सावधानी एवं विचार-गाम्भीर्य के साथ सूक्ष्म ढंग से रंगमंच के वास्तविक क्षेत्र और मर्यादा से रंगमंच-कर्मी समाज को दीक्षित एवं सुसंस्कृत करना है।

आज 'रंगमंच' का नाम लेते ही जो भाव-चित्र हमारे सामने सहज उजागर होता है, वह कुछ इस प्रकार का है, आधुनिक जीवन के आनन्द-प्रसाधन तथा भौतिक सुविधाओं से परिपूरित एक विशाल रंगभवन—जिसके भीतर रंगशाला,

---

१. Thus the very idea of a Theater, as Hamlet assumed it, gets lost, and the art of drama, having no place of its own in contemporary life, is confused with lyric poetry or pure music on one side, or with Editorializing and gossip on the other.........Page 15 (Introduction : 1)

जहां एक भाग में कुर्सियों पर सजे-सजाये दर्शकगण बैठे हैं और सामने मेहराब-खचित रंगद्वार और रंगपीठ पर अभिनेताओं द्वारा नाट्य-अनुष्ठान । पहला अन्तराल— दर्शकों का बाहर आना-जाना, शोर-गुल, चाय-काफी और सिगरेट पान । इसी भाँति दूसरा और तीसरा अंतराल और दो-ढाई घंटों की चहल-पहल, पारस्परिक औपचारिकता, सामाजिक आदान-प्रदान, साथ ही मनोरंजन, मित्रों-परिचितों से भेंट-मिलाप, और अपने-अपने व्यवसाय की अलग-अलग बातें ।

रंगमंच के नाम पर आज यह भावचित्र और यह अवधारणा संभवतः हमें आधुनिक जीवन और उससे भी अधिक सिनेमा-सभ्यता से प्राप्त हुई है—जिसने निःसंदेह रंमंच के व्यापक धर्म, मूल प्रकृति, गौरव एवं अर्थबोध को घटा दिया है ।

शेक्सपियर ने हैमलेट के मुख से थियेटर को 'दर्पण' कहा है, जो समूची प्रकृति की ऐसी अनुकृति करता है कि जिसमें उसकी अंतरात्मा की छवि, और काल की स्थिति उजागर होती है ।

आज के सामाजिक तथा पाठक कहेंगे कि रंगमंच की यह प्रकृति, उसका यह स्वरूप 'हैमलेट' के अपने युग की अवधारणा के फलस्वरूप है । आज रंगमंच के प्रति यह अवधारणा नहीं बन सकती । हम आज जिस युग में जी रहे हैं, उसकी अपनी साधन-सम्पन्नता है, कला-रुचि है और सौन्दर्यबोध के अपने माप-दंड हैं ।

पर ज़रा चिंता करने की बात है—कि क्या यह सच भी है । क्या हमने कभी गंभीरता से सोचा है कि हमारा युग क्या है ? इसका व्यक्तित्व कैसा है ? और क्या इस युग की प्रकृति और इसकी अंतरात्मा, इसका सारा दुख-सुख, स्वप्न और आशा, पीड़ा और त्रास आज हमारी नाट्य-कृतियों और उनके अनुष्ठानों में प्रतिविम्बित है ? मैं अनुभव करता हूँ कि हम आज अपनी नाट्य-कृतियों तथा नाट्य-अनुष्ठानों से अपने समय को, जीवन को और अपनी प्रकृति की अन्तर्छवि को नहीं देख पा रहे हैं । लगता है जैसे हमारे बीच में कोई जड़-मशीन आ खड़ी हुई है, जिसने रंगमंच की समूची प्रकृति, स्वरूप और गौरव को आच्छादित कर रखा है । रंगमंच को उसके मूल स्थान से ही स्थानान्तरित किया जा रहा है, और तभी रंगमंच के अभिज्ञान में आज इतना संकट उपस्थित है ।

यह ठीक है कि आज हम कालिदास अथवा शेक्सपीयर के रंगमंच का निर्माण नहीं कर सकते, क्योंकि निःसंदेह वह अपने युग की एक विशेष सृष्टि है—अनुभूति है । वह इतिहास दुहराया नहीं जा सकता । पर आज यह अत्यावश्यक है कि, रंगमंच क्या है ? इसका सत्य भाव हमें प्राप्त हो तथा उसकी अनुभूति हमें हो जाय । जब तक हम इस महाभाव से वंचित रहेंगे, तब तक न हम कालिदास, शेक्सपियर आदि की महान् नाट्य-कृतियों का रसा-

स्वादन पा सकते हैं, न उस युग की कला-रुचि ही समझ सकते हैं और न अपने युग-विशेष का रंगमंच निर्मित कर सकते हैं। नाटक जैसे अति शक्तिशाली तथा जीवन्त काव्य-कला माध्यम को केवल हम साहित्य के एक सामान्य प्रकार एवं विधा के ही स्तर से देखते रह जायेंगे।

नाटक में नाटक की आत्मा की अनुभूति और उसके प्रत्यक्ष दर्शन के लिये हमें रंगमंच का सम्पूर्ण सत्य भाव चाहिये।

●

क
○○○○○

# रंगमंच-अन्वेषण

रंगमंच का स्वरूप-अन्वेषण, और उसका अर्थ-गौरव जीवन की ही भाँति है। यह अपने अतल में जितना गहन और अमूर्त है, भौतिक धरातल पर यह उतना ही मूर्त और विराट है। जितना ही यह एक और आदिम और सनातन है, उतना ही यह गत्यात्मक और युग-सापेक्ष्य है। यह इतना असीम और अपरिमेय है कि इसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को देख पाना, अभिज्ञान करना और सबसे अधिक इसे अनुभवगम्य कर पाना किसी समाज अथवा व्यक्ति के लिये परम साधना और सौभाग्य से ही सम्भव है।

'रंगमंच क्या है?' इसके व्यक्तित्व से परिचय कराने का अतिमहत्त्वपूर्ण प्रयत्न शेक्सपियर ने 'हेमलेट' के माध्यम से किया है। 'हेमलेट' अपने अभिनेताओं से इसके स्वरूप तथा धर्म-अभिज्ञान के विषय में कहता है :

"The purpose of playing, whose end, both at first and now, was and is, to hold, as 'Twere' The Mirror up to nature, to show virtue her own feature, scorn her image, and the very age & body of the time his form & pressure."

अर्थात नाटक खेलने का प्रयोजन तथा उद्देश्य, जैसा कि आदि काल से अब तक था, और आज भी है—प्रकृति को दर्पण दिखाना है, (सत) गुण को उसकी आकृति देना है, उसकी मूर्ति का उपहास करना है, तथा युग, काल के शरीर को, उसके स्वरूप और प्रभाव को (व्यक्त) करना है।

मात्र इतने कथन में अनेक महत्वपूर्ण संकेत हैं, जो पाश्चात्य रंगमंच के मूलभूत तत्वों का निर्देश करते हैं। इनमें वे तत्व भी हैं, जो संसार के सभी रंगमंचों के मूलाधार हैं और उनके स्वरूप के परिचायक हैं—जैसे रंगमंच का अदिकालिक तथा सनातन पक्ष, युग-काल तथा समाज की व्यंजना, तथा इसके अन्तर्गत नाटक खेलने और दिखाने के स्तर से नाटक-अभिनय, दर्शक-समाज आदि। वस्तुतः यह कथन शेक्सपियर के थियेटर के व्यक्तित्व-परिचय के संदर्भ

में है, जो निःसन्देह अपने युग, अपनी कला-रुचि का जीवन्त प्रमाण उपस्थित करता है। हेमलेट ने थियेटर को दर्पण की उपमा से समझाया है, जो पाश्चात्य रंगमंच की प्रकृति और स्वरूप का सत्यतम और सुन्दरम उदाहरण और उपमान है। हेमलेट का वह रंगमंच ऐसा दर्पण है, जो समूची प्रकृति की सफल अनुकृति करता है जो यथार्थ की प्रतिछवि है। पर वह दर्पण इतना सनातन और महाशक्तिमान् है कि उसमें युग और काल की समूची छवि उतर आती है।

## रंगमच : मनुष्य की सनातन प्रवृत्ति

रंगमंच एक मानव प्रवृत्ति है—अनिवार्य, आदिम सत्य, जिसकी तुलना मानव संस्कृति में उपलब्ध कोई अन्य विभूति नहीं कर सकती। हम शताब्दियों तक, जीवन की मूलगत, आवश्यक सुविधाओं तथा साधनों के बिना रहे हैं, इसका साक्षी इतिहास है, पर किसी भी रूप में सही, रंगमंच के बिना हम कभी नहीं रहे हैं। मनुष्य होने का हमारा यही प्रमाण रहा है, संभवतः तभी हमें अमृत-पुत्र की संज्ञा मिलती है। रसमय और कलापूत हम कहे गये हैं।

इस सनातन तथा आत्मसिद्ध इच्छा के पीछे अधारभूत सत्य क्या है? मानव-हृदय की वह कौन-सी अबाध, प्रेरक शक्ति थी जिससे रंगमंच अमूर्त से मूर्त और युग के साथ सदैव चिरगामी रहा!

रंगमंच के प्रायः सभी इतिहासकारों तथा विशेषज्ञों ने बताया है कि रंगमंच का उदय धार्मिक अनुष्ठानों तथा धर्म-कृत्यों से हुआ है, इस प्रकार रंगमंच मनुष्य की धार्मिक प्रवृत्ति की देन है। कुछ विद्वानों ने यह भी बताया है कि मनुष्य ने अपनी जंगली अवस्था में ही अपने कर्मों तथा साहसिक घटनाओं के आधार पर रंग रचाना प्रारम्भ किया था।

पर आधार-भूत सत्य इन स्थापनाओं से कहीं और गहरे हैं—वस्तुतः मानव की आदि चेतना और मन ही सबसे अधिक मौलिक, सृजनशील और नाटकीय है। इतना नाटकीय कि ईश्वर तथा प्रकृति की सृजन-सत्ता को ही चुनौती देने वाला। मनुष्य में एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जिसकी असीम प्राणवत्ता के बावजूद उसके विषय में इतिहास, मनोविज्ञान और सौन्दर्य-शास्त्र ने अब तक कुछ भी नहीं कहा है—यह है रूपान्तर करने की प्रवृत्ति, अर्थात् बाह्य जगत से प्राप्त विम्बों तथा दृश्यों को स्वेच्छा-सृष्ट अन्तःकरण से उद्भूत दृश्यों के विरुद्ध खड़ा करने का सत्य। अर्थात् प्रकृति में दीखने वाले, प्राप्त दृश्यों को एक अन्य रूप देने की प्रवृत्ति अर्थात् वह प्रवृत्ति जिसका वास्तविक रूप स्पष्टतः उस अवधारणा

में प्रकट होता है, जिसे नाटकीयता कहा जाता है।

मनुष्य की यह आदिम प्रवृत्ति उसकी एक ऐसी विशेष सृजनशील शक्ति थी, जिसका पता वह सदियों तक स्वयं भी न पा सका, पर उस शक्ति को वह सनातन से व्यवहार तथा प्रयोग में लाता रहा। इस शक्ति तथा प्रवृत्ति का आभास मनुष्य को जब हुआ होगा, तब तक वह सदियों जी चुका होगा और अपनी उस प्रवृत्ति के असंख्य जीवित प्रमाण दे चुका होगा।

एक सृजन ईश्वर करता है, प्रकृति करती है, पर मनुष्य इससे संतुष्ट कहाँ होता है? वह तो संतुष्ट तब होता है, जब वह स्वयं एक अपना अलग सृजन करता है—अपने आपसे एक जगत का मौलिक निर्माण करता है। इस क्षेत्र में उसे चाहे मुखौटे, नक़ली चेहरे और रंग पोतकर ही क्यों न अपने कार्य पूरे करने पड़ें। मनुष्य की यह नाटकीय प्रवृत्ति उसे अनेक स्तरों का आनन्द देती है। वह स्रष्टा का आनन्द लेता है। अमरत्व का देवता और ईश्वर बनने का वह आनन्द लेता है। अर्थात वह उस सबको अपने इस स्वरचित जगत में प्राप्त कर लेता है, अनुभव कर लेता है, जो उसे ईश्वर तथा प्रकृति की ओर से नहीं मिला, अथवा जो उसे कभी नहीं मिलता।

भारत में इन्द्रध्वज के उत्सव के अंग के रूप में नाटक के प्रथम अभिनय और दूसरी ओर पश्चिम में देवता के पूजन-आनन्द को इतिहासकारों ने धार्मिक कृत्य के स्तर से नाटक अथवा रंगमंच का आदि स्वरूप माना है। वस्तुत: यह स्वरूप मूलत: मनुष्य की उक्त सनातन प्रवृत्ति का परिचायक था, जहाँ उसने रूपान्तरण और अनुकरण का सार्वजनिक तथा व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत किया। यह धार्मिक कृत्य अथवा अनुष्ठान बाद में हुआ होगा, पहले यह आत्मानन्द ही रहा होगा। प्राचीन भारत के इस प्रकार के उत्सवों में सर्वाधिक महान उत्सव इन्द्र के ध्वज-दण्ड का था, जिसे 'इन्द्रध्वज महा' अथवा 'शक्रमहा' कहते थे। नाट्य-शास्त्र इसी रंगोत्सव को अपना आधार मानकर चलता है। कालान्तर में जब रंगोत्सव के अन्तर्गत नाटक मुख्य हो गया होगा तब रंग का उत्सव पक्ष दबकर पूर्वरंग के रूप में विलीन हो गया होगा।

## रंगमंच : एक अमूर्त सत्य

रंगमंच एक भाव है—एक अनुभूति है, जिसकी अपनी असीम व्यापकता और गहराई है। इसके मूलभाव और इसकी सम्पूर्ण प्रवृत्ति के साथ ही मनुष्य जन्म लेता है। शिशु जो खेल रचाता है और अपनी सहज मंडली के बीच

वह जो बहुरंगी नाट्य उजागर करता है, वह क्या इसी स्थायी भाव का ज्वलंत उदाहरण नहीं है ? वह जो कुछ अपने प्रत्यक्ष जगत में देखता है, उसका अनुकरण तथा उसका सजीव अभिनय उसका अपना संसार है। जब मनुष्य उसके रंगक्षेत्र को समझ नहीं पाता, अथवा उसके रचित नाटक की अनुभूति नहीं कर सकता और उसमें विघ्न उपस्थित करता है, तब शिशु के दुःख की चरम सीमा उसके आँसू हैं।

बच्चा अपने इस अनुकरणमय रंग-संसार के अतिरिक्त एक सृजनमय रंग-संसार भी बनाता है, जो ईश्वर और प्रकृति की शक्ति और नियमों से परे है। उसके इस रंग-संसार में पेड़-पौधे बोलते हैं। मिट्टी के खिलौने राजा-रानी बनकर अपना पूरा जीवनवृत्त रचा जाते हैं। वह अदृश्य लोक से परियों को अपनी आँखों में उतारकर सामने धूल-माटी में साक्षात सस्वरूप खड़ा कर लेता है, और उनसे अपनी अनोखी वाणी में बातें भी करता है।

शिशु के इस सृजनशील विशुद्ध काल्पनिक रंगमंच को हम-आप बिलकुल नहीं समझ सकते। सम्भवतः इसी लिये बच्चा सबसे छिपकर, अर्थात् अपने को हमसे पूर्णतः अदृश्य रखकर अपना रंग रचता है—जिसका पूरा 'नाट्य' अद्भुत है : जिसमें किसी भी रंग-साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती, न नाट्य कृति की, न अभिनेता की, न मंच की और न किसी दर्शक की।

इस प्रकार रंगमंच मनुष्य की मूलतः आंतरिक वृत्तियों तथा उसकी सम्पूर्ण शक्ति का सृजन-रूप है। मनुष्य अपने प्राप्त जीवन के भीतर से एक अपना रचा हुआ जीवन अनुभूत करता है, और सजा-बनाकर, ईश्वर अथवा प्रकृति के दिये सीमित तथा विवश जीवन से सर्वथा भिन्न सिद्धकर वह यह कहने में गौरवान्वित होता है कि "यह मैं हूँ, यह मेरा जीवन है, जिसका नियामक और उपभोक्ता मैं हूँ।" जिस जाति एवं राष्ट्र में इस प्रकार अपने जीवन को स्वयं सृजनकर रंगमंच के भीतर उसकी इस भाँति पूर्ण छवि देखने और उसका पूर्ण आनन्द लेने की क्षमता होती है, वह जाति एवं राष्ट्र उतना ही महान और जीवंत होता है, क्योंकि इस मूल्य स्तर से मनुष्य, जीवन का रसभोक्ता ही नहीं, वरन उसका कर्त्ता और स्वामी भी होता है। अन्यथा केवल प्रकृतिप्रदत्त जीवन जीना मनुष्य की वास्तविक दासता है।

सुन्दर, शक्तिशाली और गौरव-पूर्ण मनुष्य की पहचान क्या है ? यही कि वह प्रकृति का दास नहीं है, उसका मुखापेक्षी नहीं है। बल्कि वह एक अपना मौलिक, उससे सर्वथा भिन्न अपना मनचाहा संसार रचता है।

मनुष्य का अपना विरचित संसार—यही वास्तविक रंगमंच है। और रचना का सम्पूर्ण विराट भाव उसकी प्रेरणा—यही रंगमंच का चिरन्तन दर्शन है, जिसमें वह अपनी पूर्ण छवि प्रत्यक्ष देखता है—अपने युग और जीवन की आत्मा को समझने और उसका आनन्द लेने का वह प्रयत्न करता है। शायद यही कारण है कि जैसे-जैसे जीवन का रूप बदलता गया है, जीवन में आनन्द लेने की प्रकृति बदलती गयी है, वैसे-वैसे स्वभावतः रंगमंच के स्थापत्य में, रचना में परिवर्तन होता गया है।

रंगमंच की आत्मा नाटक अथवा नाटकीयता है, और उसका सनातन धर्म प्रदर्शन है। यह प्रदर्शन का सत्य समान रूप से मनुष्य के लिये भी लागू है। तभी यह कहना सत्य है कि रंगमंच की सत्ता मनुष्य जीवन के साथ है, बल्कि एक दूसरे का पर्याय जैसा है।

प्रदर्शन मनुष्य का सहज धर्म है, और उसका आत्मानन्द भी और इससे भी आगे यह आत्म-प्रदर्शन उसकी धार्मिक प्रवृत्ति तथा सौन्दर्य-बोध के लिये भी है।

इसी प्रदर्शन और भावाभिव्यक्ति के ही आधार पर यह सिद्ध है कि, जब कहीं कोई एक भी नाटक नहीं लिखा गया था, रंगमंच का पूर्ण अस्तित्व तब भी था। आदिम काल में मनुष्य ने अपने गिरोह के साथ मृगया-आनन्द, विजयोल्लास, देव-पूजा और कृषि-उत्सव अथवा कर्म में जब समूह नर्तन किया होगा, वह रंगमंच ही था।

वह भी रंगमंच ही था जब मनुष्य ने गिरोह के सम्मुख अपनी किसी हृदय-स्पर्शी घटना, घनीभूत मनोभाव को मुद्राओं और संकेतात्मक भावाभिनय के साथ, बिना किसी शब्दोच्चारण के व्यक्त किया होगा। फलस्वरूप, भावाभिनय ही, इस प्रकार रंगमंच की मूलभूत कला है। इसके लिये यह न किसी रंग भवन की अपेक्षा करता है, न किसी विशेष मंच की। क्योंकि इसकी रचना, इसकी अभिव्यक्ति कहीं भी, कैसे भी, सदैव संभव है—खेत में, मार्ग में, खुले मैदान में, मनुष्यों की परिधि और उनकी भीड़ में।

## रंगमंच में नाट्य कृति

सामाजिक और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के लिये रंगमंच के लिये नाटक सदियों बाद कालान्तर में लिखे गये, प्रथम चरण में, नृत्य-गीत आदि के रूप में। द्वितीय चरण में, कथा और चरित्र का रंग डालकर। और ज्यों-ज्यों इस

भाँति मनुष्य का जीवन सरल से संश्लिष्ट होता गया, उसके रंगमंच में स्वभावतः पूर्ण रचित नाट्य कृति की अपेक्षा होती गई। और यह अपेक्षा इतनी बढ़ी कि रंगमंच का पूरा रूप, उसका सारा स्थापत्य नाट्य-कृति में अन्तर्निहित हो गया।

रंगमंच का रूप और उसका स्थापत्य भी स्वभावतः जीवन की प्रकृति के साथ सरल से संश्लिष्ट होता गया।

## नाट्य-कृति में रंगमंच का मूर्त सत्य

जब नाटक खेलने के लिये लिखा गया, तब उसकी अन्तरात्मा और रचना-विधि में रंगमंच अपने समस्त तत्त्वों के साथ कार्य करता गया। बल्कि हम इस तरह भी कह सकते हैं कि रंगमंच को ही अभिव्यक्ति देने के लिये लिखित अथवा अलिखित नाट्य-कृति की सृष्टि हुई। क्योंकि नाटक ही तो अपने मूर्त और व्यापक अर्थ से रंगमंच है। और नाट्य-प्रवृत्ति इसका प्राण।

मनुष्य इसके पूर्व सदा अलिखित नाटक खेलता आ ही रहा था और वस्तुतः उसने जब रंगमंच के अनुष्ठान के लिये नाटक लिखना प्रारम्भ किया, तब स्वभावतः नाटक खेलने की समस्त विधियाँ—समस्त छंद, स्वर, रंग-शिल्प, वर्ण्य-विषय में समाहित हुए। विना इसके नाटक 'नाटक' ही नहीं हो सकता और नाटक खेलने तथा रचने का प्रश्न ही नहीं उठता।

नाट्य-कृति और रंगमंच एक-दूसरे के कार्य और कारण हैं, दूसरे स्तर पर एक-दूसरे के पूरक और यहाँ तक कि एक-दूसरे के पर्याय भी हैं।

नाट्य-कृति में नाटककार ने एक समाज, एक युग अथवा काल को अपनी नाट्य-रेखाओं में बाँधा। अर्थात् विविध प्रकार के चरित्रों तथा उनके कर्मों, आकांक्षाओं, मनोवृत्तियों और जीवन में उनके प्रभावों एवं परिणामों के आकलन तथा संकलन के ही रूप में वह नाट्य-कृति प्रस्तुत हुई। नाट्य-कृति के चरित्रों के पीछे अभिनय और अभिनेता की कल्पना हुई। और यह सब, इतना कलात्मक, सृजनशील तानाबाना इसलिए तैयार किया गया कि उसे प्रस्तुतकर हम समाज में अपने आनन्द और मनोरंजन को विविध और असीम रूप दे सकें। हम एक ही स्तर से, एक ही समय, एक ही स्थान पर अपने रस-रंजक समाज के साथ आनन्द ले सकें।

ठीक इसी संदर्भ में रंगमंच अपने अमूर्त रूप में—

- नाटककार
- निर्देशक
- प्रस्तुतिकरण-अंग
- दर्शक-समाज

के अन्तःकरण में सदैव विद्यमान रहता है और वहाँ निरंतर सौन्दर्य-बोध के साथ विकसित होता रहता है। भारतीय रस-सिद्धान्त के पीछे यही सत्य मूलाधार के रूप में प्रकट है : और पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र के प्राचीन और आधुनिक रंगमंच में यही सत्य क्रमशः रेचन-सिद्धान्त और सम्प्रेषणीयता के मूल्य की कोटि में चरितार्थ होता है।

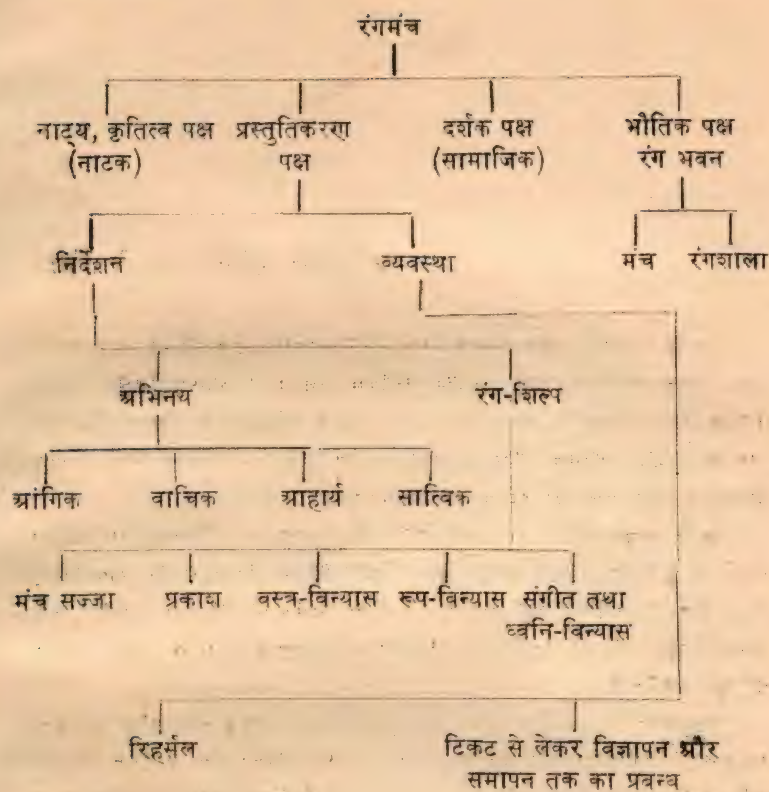
## रंगमंच क्या है ?

ऊपर के विचार अनुक्रमों में रंगमंच का अन्वेषण उसके भावना पक्ष, अथवा उसके आंतरिक पक्ष की गरिमा के स्तर से किया गया है, जो निश्चय ही अपेक्षाकृत अनुभूति का विषय है, विचार-विनिमय का उतना नहीं।

रंगमंच एक अनुभूति है, उसे हम रंगमंच का आन्तरिक पक्ष कह सकते हैं, पर जीवन में इसकी विराटता और समग्रता को देखना और उसके विभिन्न तत्वों को सही अर्थों तथा उसके ही अनुपात में समझना, रंगमंच की अनुभूति का व्यावहारिक पक्ष है।

रंगमंच का इसके सम्पूर्ण अर्थ में ग्रहण अथवा इसकी महत अवधारणा, यह आधुनिक युग के चिन्तन और व्यवहार का फल है। प्राचीन अथवा मध्ययुग में मनुष्य ने नाटक की रचना की, उसे खेला, देखा और वह भावमग्न हुआ। वह इतने बड़े रंगमंच का व्यापक प्रयोग अथवा व्यवहार कर रहा है, शायद वह इसके लिए इतना चेतन न था—जितना कि आधुनिक युग रंगमंच के प्रति चेतन और जागरूक हुआ है।

रंगमंच के विषय में आधुनिक युग की चेतना इतनी बढ़ी है कि इसे विज्ञान तक का स्तर मिला है। विभिन्न पक्षों में एक दृष्टि से देखकर रंगमंच का एक व्यापक और सही अर्थ इस युग में लिया गया। हम जब रंगमंच कहते हैं, तब हमारी अवधारणा और दृष्टि में इतना व्यापक अर्थ रहता है :




रंगमंच के इस व्यावहारिक रूप का उक्त भावचित्र निश्चय ही वर्तमान काल का है। रंगमंच अपने विविध पक्षों में—विशेषकर अपने प्रस्तुतिकरण-पक्ष में आज इतने विभागों में बँटा हुआ है, इसके पीछे निश्चय ही आधुनिक युग की श्रम-विभाजन की प्रवृत्ति कार्य कर रही है।

ख
ooooo

# रंगमंच और उसकी रीति

पिछले पृष्ठों में हमने विचार किया है कि रंगमंच तब भी था, जब नाटक नहीं लिखा जा सकता था, जबकि आदिम मनुष्य ने आनन्द-विभोर होकर गिरोह में नृत्य किया था, अपने किसी सफल मृगया-अभियान में। बिना कुछ बोले, जब उसने मुद्रा, भंगिमा और चेष्टाओं-संकेतों से कोई भावकथा कही होगी। शब्द-हीन कथा-वस्तु की नृत्यकथा—भावकथा।

अपने प्रत्यक्ष अर्थों में रंगमंच किसी विषयवस्तु को अभिनय द्वारा प्रदर्शन करने की कला है। इसके लिये इसे न किसी विशेष रंगभवन की आवश्यकता है, न मंच की, न किसी रंगशिल्प की। क्योंकि रगमंच की प्रतिष्ठा, इसकी रचना इसका प्रयोग कहीं भी किसी भूमि-खंड पर हो सकता है। वस्तुत: यही रंगमंच की मूल प्रकृति है।

कालान्तर में जैसे-जैसे मनुष्य का जीवन उन्नत, समृद्ध और संश्लिष्ट हुआ, स्वभावतः रंगमंच का भी वही रूप हुआ। इसके भीतर पूर्ण संगठित नाट्य-कृति आयी। उस नाट्य-कृति में जो जीवन प्रतिबिम्बित हुआ, उसे उस नाटक से निकालकर मंच पर रखने और दर्शक को दिखाने का प्रश्न आया। इसका फल यह हुआ कि प्रथम, रंगमंच का क्षेत्र बहुत ही विशाल और गहन हो गया। इसमें मंच, प्रस्तुतिकरण-तत्व, रंग-शिल्प, इन सब पक्षों का अद्भुत विकास हुआ। और ये सब अपने-आप में बहुत गहन कलातत्व हो गये। दूसरे, नाटक की प्रदर्शन-पद्धति, उसकी व्याख्या, अर्थबोध को लेकर निर्देशकों के, विभिन्न विचार और उद्देश्य प्रकट होने लगे। अर्थात् सीधा-सादा स्पष्ट रंगमंच, साहित्य, कला और विज्ञान तीनों को अपने व्यक्तित्व में समेट ले गया।

नाट्य-वस्तु को मंच पर प्रस्तुत करने के लिये उसे एक निश्चित रूप, व्यवहार और अर्थ देना—इस सत्य ने रंगमंच की रीति और प्रकृति को बहुत ही व्यापक और गहन बना दिया। एक ही नाटक के दो प्रदर्शन, एक-दूसरे से भिन्न हो जाते हैं। एक नाटक के दो विभिन्न निर्देशकों और प्रस्तुतकर्ताओं द्वारा किये गये प्रयोग एक-दूसरे से कितने भिन्न हो जाते हैं, उनकी कलागत

व्याख्यायें, रंगबोध कितने अलग-अलग होते हैं, इसके असंख्य उदाहरण आधुनिक रंगमंच-क्षेत्र में मिलते हैं।

फिर भी दो मूल प्रदर्शन-रीतियाँ हैं, जिनसे नाटक को रंगमंच का रूप दिया जाता है।—

- असत्याभासी भावधर्मी रीति
  (नान इल्यूज्निस्टिक प्रजेन्टेशनल स्टाइल)
- सत्याभासी प्रतिनिधान रीति
  (इल्यूज्निस्टिक रिप्रजण्टेशन स्टाइल)

## असत्यभासी भावधर्मी रीति

नाटक को इस रूप में अभिनीत करना कि वह पूर्णतः एक रंगमंचीय अनुभूति लगे। नाटक की विषय-वस्तु को ऐसे ढंग से प्रस्तुत किया जाय कि वह प्रथमतः वाचिक की अपेक्षा अभिव्यंजित सिद्ध हो। यह रंग-प्रदर्शन स्वाभावतः सहज और सीधा होता है और इसका प्रत्यक्ष उद्देश्य अभिव्यंजना है—प्रकटीकरण। यह इस अर्थ में भावधर्मी है, कि यह नाटक की कथा का, उसकी विषय-वस्तु का, उत्स्थान करता है। यह नहीं कि वह कथा, वह विषय-वस्तु, जीवन में कैसे अपना प्रतिनिधान पायेगी। वस्तुतः यही रंग-पद्धति संस्कृत रंगमंच की प्रकृति है। विशेषकर इसकी लोकधर्मी नाट्य-परम्परा की प्रकृति, जहाँ दर्शक के समक्ष मंच-दृश्य बदला जाता है। उसकी मंच-सामग्री उठा ली जाती है। जहाँ का अभिनेता मुद्रा और गति के माध्यम से कभी रथ का सारथी बनता है, कभी घोड़े दौड़ाता है। मंच पर दो परिक्रमा करके जहाँ वह काशी से झट मगध पहुँच जाता है, और वहाँ से क्षण भर में पाटलिपुत्र या किसी सड़क या जंगल में। जहाँ अभिनेता का हाथ ही तलवार है, लकड़ी का छोटा-मोटा बक्स ही जहाँ राजसिंहासन अथवा न्यायाधीश का आसन है। मुँह पर पुता हुआ रंग ही उसकी चित्रवृत्ति का दर्पण है।

वस्तुतः यह रंगमंच है रूपवाद और रीतिबद्धता का। जहाँ वास्तविकता की सम्प्रेषणीयता के लिये प्रतीक का इस्तेमाल होता है। जहाँ दर्शक को प्रदर्शन-तत्वों में पूर्ण विश्वास करके चलना पड़ता है। यह अथक, अबाध विश्वास दर्शक की पूर्ण समवेदना पर चलता है, और इसका आधार है इस रंगमंच की रूढ़ियाँ और परम्परायें जो स्वभावतः दर्शक के संस्कार और सौन्दर्यबोध से समन्वित होती हैं।

योरोप का मध्ययुगीन रंगमंच और इलिजाबीथन रंगमंच इसी रंगमंच-रीति में आता है। ग्रीक रंगमंच विशेषकर इसका दुखान्तकी प्रकार इस असत्याभासी भावधर्मी रीति का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। उनके वस्त्र, उनके मुखौटे, उनके लम्बे-ऊँचे लकड़ी के तल्ले लगे जूते, उसी उपस्थापन तत्व के ही लिये सब थे; तभी उनका सारा अभिनय रीतिबद्ध था। सारा मंच दृश्य-रीति में बँधा था।

आधुनिक रंगमंच में ब्रेख्ट का रंगमंच, मूलत: यही असत्याभासी भवाधर्मी रंगमंच है। उसके 'एपिक थियेटर' की अवधारणा के पीछे रंगमंच की यही सबल रीति है। यह रीति आधुनिक रंगमंच में काफी लोकप्रिय है, तथा आधुनिक रंगमंच की यह आज मुख्य प्रवृत्ति होती जा रही है।

## सत्याभासी प्रतिनिधान रीति

पहले रंगमंच प्रकार की रीति से बिल्कुल दूसरी सीमा पर। जहाँ का सत्य उपस्थापन नहीं, बल्कि प्रतिनिधान है। और वह भी ऐसा प्रतिनिधान, जहाँ सत्य का आभास लगे। जहाँ दर्शक के विश्वास का भरोसा न करके उसके विज्ञान, तर्क का सहारा लिया जाय। उसे जहाँ चुनौती दी जाय, कि मंच पर जो कुछ हो रहा है, वह जैसे जीवन में हो रहा है। जितना आयाम जीवन में है, दैनिक स्थितियों में, उसी के भीतर उसी यथार्थबोध में मंच निर्मित होता है, अभिनेता उसी तरह अभिनय करते हैं, मंच पर वही यथार्थमय व्यवहार होते हैं।

वस्तुत: यह रंगमंच, 'यथार्थवाद' और 'प्रकृतिवाद' का रंगमंच है जिसके प्रमुख नाटककार हुए हैं 'इब्सन,' 'शा,' 'चेखव,' 'स्टिन्बर्ग,' 'आर्थर मिलर' आदि। और इस रंगमंच-रीति के प्रमुख निर्देशक और प्रस्तुतकर्ता हैं 'स्टेन्स्लावेस्की' और 'इलिया कज़ान'।

## रंगमंच की प्रक्रिया

नाटक, रंगभवन, मंच, रंग-शिल्प, साज-सज्जा इन सारे तत्वों के मध्य में दो मूल तत्व वे हैं, जिनके बिना रंगमंच की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। वे मूल तत्व हैं—अभिनेता और दर्शक।

मानव संस्कृति के इतिहास में एक चरण वह था, जब नाटक (पाठ अथवा

कृति) नहीं लिखा गया था, यहाँ तक कि जब शब्द भी नहीं था, पर रंगमंच तब भी था। पेन्टोमाइम-अभिनटन के रूप में। तब न रंगभवन था, न मंच, न रंगशिल्प। पर था रंगमंच का मूल्य सत्य, अभिनेता और दर्शक—एक खेलने वाला, दूसरा उसे देखने वाला। वस्तुतः कला सम्पूर्ण का ही मूल है सम्प्रेषणीयता। दूसरे शब्दों में कोई भी कला-कृति, व्यक्ति द्वारा किसी भी रूप और माध्यम से एक समूह के प्रति कथन है, प्रतिनिवेदन।

यह कथन दो प्रकार से संभव है। पहला, कहकर, दूसरा करके—कुछ रचना करके। जिसे कोई कृति कहेंगे हम। रंगमंच में यह रचना मनुष्य केवल कार्य द्वारा करता है, जिसमें उसकी बोली है, गति है, व्यवहार है। और यह बोली-भाषा, गति, कार्य और व्यवहार सब साधन हैं, उसी एक साध्य के, उसी एक सत्य के, जिसे वह समाज को सम्प्रेषित करना चाहता है। इस तरह रंगमंच का मूल्य सत्य कर चुकने में नहीं, बल्कि उसके कार्य के ढंग में है, और उसमें से सम्प्रेषित बात है। नाटक निश्चय ही एक किया हुआ कार्य हो सकता है, किन्तु रंगमंच कार्य का करना है। यह एक प्रत्यक्ष प्रक्रिया है। साक्षात् कर्म और कार्य—दोनों का सत्यबिन्दु। उदाहरण के लिए शूद्रक का 'मृच्छकटिकम्' अपने उस युग के लिए जो कुछ था, वह आज हमारे इस युग के लिए हमार संदर्भ में बिल्कुल अपना है—बिल्कुल अपना और नया। इसमें व्याप्त शूद्रक के विचार, उसके आदर्श, उसका कवित्व, यह सब उस नाटक का साहित्य पक्ष था—रंगमंच की दृष्टि से एक गौण पक्ष। मुख्य पक्ष वह था, जिसने अभिनेताओं को इसे खेलने के लिए अनुप्रेरित किया, वह तत्व, जिसे देखने-पाने के लिए प्रेक्षक वर्ग एकत्र हुए और जो प्रभाव उनके ऊपर पड़ा—यही रंगमंच था। शूद्रक का, मृच्छकटिकम् का।

किसी कृतित्व द्वारा समाज को सम्प्रेषित करना, यह क्षेत्र है सर्जनात्मक कला का। किन्तु आगे प्रत्यक्ष कार्य के द्वारा दर्शक को बोध करना, दिखाना यह क्षेत्र है प्रदर्शनशील कला का। स्वभावतः सर्जनात्मक कला में कलाकार और समाज का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता, जब कि दूसरी कला में यही प्रत्यक्ष सम्बन्ध उसका सबसे बड़ा आकर्षण है। और यही प्रत्यक्ष अनुभूति को जन्म देता है। तथा उसी अनुभूति से वही सम्प्रेषित हो जाता है, जिसके उद्देश्य से अभिनेता दर्शक के सामने हाजिर हुआ था।

अतएव रंगमंच एक बहुत बड़ी कला है। बड़ी कला इसी लिए कि इसकी प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष और सम्पूर्ण होती है। और मूलतः इसका माध्यम वही अभिनेता होता है।

प्रश्न यह है, इस अभिनेता का वह मूल साधन क्या है, जिससे वह दर्शक को अपनी बात का बोध कराता है। अभिनेता का व्यक्तिगत साधन है, उसकी

आवाज, मुद्रा, उसका मुखौटा, उसका वस्त्र और उसका उपकरण—वाद्ययंत्र आदि। ये साधन अभिनेता के मूल और मुख्य साधन हैं। उसके अन्य साधन हैं—वह स्थान, वह मंच, जहाँ वह अभिनय करता है, वह पृष्ठभूमि, दृश्य-सज्जा जिनसे वह अपने संदर्भ के निर्माण में सहायता प्राप्त करता है।

अभिनेता का यही निज का साधन ही वह मूल शक्ति है, जहाँ से रंगमंच अपना जन्म पाता है। यह एक भिन्न बात है कि किसी जनसमूह में सहसा एक व्यक्ति खड़ा होकर जब उस पूरे समूह को सम्बोधित करता है, तब स्वभावतः उसे अपनी बोली, स्वर, आवाज बदलनी पड़ती है। क्योंकि बिना किसी विचित्रता के उसकी ओर लोगों का ध्यान कैसे जायगा? इस विचित्रता के लिये ही वस्त्र और मुखौटा ही सबसे अधिक सरल और प्रभावशाली साधन रहा है। अभिनेता में यह तत्त्व आते ही रंगमंच के स्वरूप का निर्माण शुरू हो जाता है। अर्थात् अभिनेता प्रभाव और सम्प्रेषणीयता के लिये रंगमंच-शिल्प का स्वयं एक साधन बनता है। यही कारण है कि संसार भर के रंगमंच-इतिहास का पहला चरण मुखौटा-काल रहा है। मुखौटा पहनकर ही व्यक्ति पहली बार मनुष्य से अभिनेता बना, और उसके इसी मुखौटे में ही आदिम रंगमंच का स्वरूप प्रकट हुआ।

इस मुखौटे ने वह विशेष कार्य क्या किया? मुखौटे ने उस परिचित मनुष्य के स्थान पर एक अपरिचित, देवता, अर्धमानुष, राक्षस और जानवर को उस समूह के सामने ला खड़ा किया। इसने उस अभिनेता के व्यक्तित्व में अपार अर्थबोध पैदा कर दिया।

अभिनेता के इसी साधन आधार पर वस्तुतः रंगमंच की धुरी घूमती है। जहाँ साधन आधार में परिवर्तन हुआ, वहाँ से निश्चय ही रंगमंच का नया युग शुरू हुआ। अभिनेता जो खेल खेलता है, इस खेल के रंग-ढंग में ज्यों-ज्यों परिवर्तन होता गया, ठीक उसी के अनुरूप रंगमंच का सारा स्वरूप बदलता गया। साधारण खेल से संगठित खेल तक और वहाँ से पूर्ण नियोजित और पूर्ण सुसंस्कृत प्रयोग तक—एक अबाध रंगमंच-इतिहास संसार के सामने प्रकट होता रहा।

रंगमंच के इस क्रमिक विकास से, यह कहना कठिन है कि उस 'खेल' में उत्तरोत्तर अधिकाधिक्त और प्रभाव आता गया या नहीं। हाँ, केवल यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि वह 'खेल' क्रमशः अपने युग की माँगों और दर्शक के सौन्दर्यबोध के अनुरूप स्वभावतः ढलता चला गया।



मुखौटाधारी मनुष्य



लोकधर्मी नाट्य-परम्परा



लोकधर्मी रंग-परम्परा



नृत्य, पूजन श्रौर धार्मिक समारोह का नाट्य

## रंगमंच के सात चरण

रिचर्ड साउथर्न ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द सेविन एजेज़ आफ द थियेटर' में शुरू से आज तक संसार भर के रंगमंच-विकास को ध्यान में रखते हुए इसे सात चरणों में अध्ययन करके देखा है।

पहला चरण है—वस्त्र-विभूषित मुखौटाधारी अभिनेताओं का। इस चरण में रंगमंच के अन्य तत्त्व उसके सहायक न हो सके थे।

दूसरे चरण में यही मुखौटाधारी अभिनेता अधिक संख्या और वर्ग में महोत्सव के रूप में आते हैं। मुक्त आकाशी मंच, चारों ओर दर्शकों से घिरे हुए। यात्रा रूप में, धार्मिकता के तत्वों के साथ, पूजा के अवसरों पर। इसी चरण में कुछ लिखित नाट्य अंश का भी समावेश संभव हुआ।

तीसरे चरण में रंगमंच अपने अधिक तत्वों तथा साधनों के साथ उजागर हुआ। धर्म के स्थान पर धर्मनिरपेक्ष मंच, धर्मनिरपेक्ष नाटक। अभिनेताओं की संख्या में कमी। विचित्रता के स्थान पर सहजता। उमंग और उल्लास के स्थान पर व्यावसायिकता। मुक्त आकाश के नीचे से मंच का भवन के भीतर प्रवेश। तकनीकी नियमों में खेल का बँधना। विशेष दर्शकवर्ग और उसकी संख्या में कमी।

चौथे चरण में विशेष मंच का निर्माण। मंच पर अनेक अंकों और दृश्यों-वाले नाटकों का उदय। कथा-तत्व और चरित्र-चित्रण पर आग्रह। पात्रों के आन्तरिक संघर्ष और द्वन्द्व भाव पर विशेष बल।

पाँचवें चरण में रंगमंच का पूर्णरूप से चित्रबंध स्थिति में प्रतिष्ठित होना। विशेष रंगभवनों का निर्माण। रंगशिल्प में दृश्य-सज्जा, प्रकाश-व्यवस्था का उदय। नाटक के गूढ़, मर्मस्थलों की समुचित सम्प्रेषणीयता और उसके अर्थबोध पर आग्रह।

छठे चरण में सत्याभास पर आग्रह। जीवन के यथार्थ बोध को रंगमंच का आधार बनाना।

और रंगमंच का सातवाँ चरण है, असत्याभास (एंटी एल्यूजन) का। तटस्थता का, अनियमन का।

•

पहला भाग

# संस्कृत-रंगमंच

## कृतित्व पक्ष : रूपक (नाटक)

कला अथवा साहित्य के मूल रूप और उसके वास्तविक सिद्धान्तों को समझना, कला और साहित्य को समझना है ।

पर नाटक ?

जो न पूर्णतः साहित्य की परिधि में आता है, न पूर्णतः कला की !

शब्द और वाक्य साहित्य के मूलाधार हैं : पर 'पैन्टोमाइम' भावाभिनय जो नाटक का प्रारम्भिक और शक्तिशाली रूप है, उसमें शब्द और वाक्य तो होते ही नहीं—न कथन का उच्चारण ही होता है ।

संसार के प्रायः समस्त महान् और श्रेष्ठतम नाटक खेलने के लिये लिखे गये थे । उनकी रचना, मंच-अनुष्ठान के ध्येय से हुई थी । इस रूप में वे पढ़े भी जायेंगे, संभवतः इतना भी उन्हें अनुमान न था ।

ग्रीक रंगमंच के 'सोफोक्लीज़' के उत्कृष्ट नाटक 'ओडिपस रेक्स' की रचना प्राचीन यूनान के देवता 'डायोनिसस' के पूजन-समारोह के लिये हुई थी, जो बसंत के दिनों में एथेन्स तथा ऐटिका के नर-नारियों को नया जीवन प्रदान करते थे । 'शेक्सपियर' का 'हेमलेट' उस समय 'ओपोलो' के प्रति धार्मिक अभिनन्दन हेतु रंग-अनुष्ठान के लिये लिखा गया था । संभवतः कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्', 'मालती माधव', 'मालविकाग्नि मित्र' और शूद्रक के 'मृच्छकटिकम्' की रचना क्रमशः तत्कालीन बसंतोत्सव, विजय-पर्व, पुत्रोत्सव अथवा कौमुदी महोत्सव और मदनोत्सव के लिये हुई थी । संस्कृत रंगमंच के इन नाटकों के विषय में यद्यपि बाहर से ऐसा कोई प्रमाण अब तक नहीं मिला है, किन्तु इन नाटकों में परिव्याप्त रंगमंच, इनकी रचना-शैली और इनकी आन्तरिक भाव-धारा जो विशुद्ध आनन्द-उल्लास, संयोग-मिलन और माँगलिक सूत्रों को अपने में समाहित किये हुये हैं—उनसे अपने-आप ऐसा प्रकट होता है ।

## संस्कृत नाटक (रूपकत्व)

हिन्दू अथवा संस्कृत रंगमंच में 'नाटक' का मूल 'रूपक' है । धनंजय ने इस रूपक को 'नाट्य' का पर्याय माना है । इस 'नाट्य' को स्पष्ट करते हुए

दशरूपककार ने 'रूप' और 'रूपक' को बड़े ही शास्त्रीय ढंग से उसके बाह्य और आंतरिक लक्षणों को बताते हुए प्रकट किया है ।[1]

## अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्

"अवस्था के अनुकरण को ही 'नाट्य' कहते हैं। जहाँ काव्य में निबद्ध या वर्णित धीरोदात्त, धीरोद्धत्त, धीरललित, धीरप्रशान्त प्रकृति के नायकों ( तथा तत्तत्प्रकृतिगत नायिकाओं तथा अन्य पात्रों ) का आँगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक इन चार ढंग के अभिनयों के द्वारा अवस्थानुकरण किया जाता है, वह 'नाट्य' है। अवस्थानुकरण से तात्पर्य है कि चाल-ढाल, वेश-भूषा, आलाप-प्रलाप आदि के द्वारा पात्रों की प्रत्येक अवस्था का अनुकरण इस ढंग से किया जाय कि नट में नाटक के पात्रों की 'तादात्म्यापत्ति' हो जाय। जैसे नट दुष्यंत की प्रत्येक प्रवृत्ति की ऐसी अनुकृति करे कि सामाजिक उसे दुष्यंत ही समझें। नाट्य-अनुष्ठान के समय दुष्यंत और नट का भेद न रहे, उनमें परस्पर 'अभेदप्रतिपत्ति' हो जाय।"

## 'रूपं दृश्यतयोच्यते'

**'तदेव नाट्यं दृश्यमानतया रूपमित्यच्युते नीलादिरूपवत् !'**
यही नाट्य 'रूप' भी कहलाता है। नाट्य केवल श्रव्य न होकर मंच पर अभिनीत भी होता है, अतः यह दृश्य है। जैसे हम नीले-पीले आदि रंग को देखते हैं तथा हमारे चक्षुरिन्द्रिय के विषय को रूप कहते हैं, उसी तरह चक्षुग्राह्य होने के कारण नाट्य 'रूप' भी कहलाता है।

## 'रूपकं तत्समारोपात्'

**नटे रामाद्यवस्थारोपेण वर्तमानत्वाद्रूपकं मुखचन्द्रादिवत्**

१. धनंजय विरचित 'दशरूपकम्' प्रकाशः ४, व्याख्याकार डा० भोलाशंकर व्यास। चौखम्बा विद्या भवन, काशी।

**इत्येकस्मिन्नर्थे प्रवर्तमानस्य शब्दत्रयस्य 'इन्द्रः पुरन्दरः शक्रः इतिवत्प्रवृत्तिनिमित्तभेदो दर्शितः ।**

"वही नाट्य रूप 'रूपक' भी कहलता है, क्योंकि उसमें आरोप पाया जाता है। जैसे रूपक अलंकार में हम देखते हैं कि मुख पर चन्द्रमा का आरोप कर दिया जाता है—मुखचन्द्र; (मुखरूपी चन्द्रमा), वैसे ही नाट्य में नट पर रामादि पात्रों की अवस्था का आरोप किया जाता है, अतः इसे रूपक भी कहते हैं। जिस तरह इन्द्र, पुरन्दर, शक्र तीनों नामों से पुकारते हैं वैसे ही एक ही अर्थ में 'नाट्य,' 'रूप' तथा 'रूपक' तीनों शब्दों का प्रयोग होता है।" कथावस्तु, पात्र और रस के आधार पर रूपक के दस भेद हैं :

नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, वीथि, समवकार, व्यायोग, अंक और ईहामृग।

नाटक रूपकों में से सर्वप्रथम और अनन्य है। रूपक के प्रायः समस्त लक्षण और सिद्धान्त व्यवहारतः नाटक पर ही चरितार्थ किये गये हैं। इससे भी आगे नाटक, रूपक का प्रतिनिधिस्वरूप है, क्योंकि प्रकरण, प्रहसन आदि रूपक के अन्य प्रकारों के लक्षण नाटक के ही आधार पर निर्धारित किये गये हैं। इसके अतिरिक्त रूपक के प्राणभूत तत्व 'रस' की पूर्ण प्रतिष्ठा नाटक में ही पायी जाती है।

रूपकों में नाटक की क्यों इतनी विराटता और सर्वप्रमुखता स्वीकार की गयी है ? 'दशरूपक' में इसके तीन कारण बताये गये हैं।

पहले तो नाटक ही अन्य रूपकभेदों की प्रवृत्ति का मूल है, उसी में वस्तु, नेता, रस के परिवर्तन करने से अन्य रूपकों की सृष्टि हो जाती है। दूसरे, नाटक में रस का परिपाक पूर्णरूप से तथा अनेक रूप से पाया जाता है। उसमें शृंगार या वीर कोई भी रस अंगी रस हो सकता है, तथा अन्य सभी रस अंग-रूप में सन्निविष्ट किये जा सकते हैं। तीसरे, वस्तु व नेता (पात्र) के समस्त शास्त्रीय लक्षण और रस की सभी मर्यादा इसी नाटक में पायी जाती है।

दशरूपककार धनंजय ने नाटक की विशेषताओं का विश्लेषण छः दृष्टियों से किया है—प्रारम्भिक विधान और वृत्ति, कथावस्तु, नायक, रस, वर्ज्य दृश्य और अंक।

नाटक का प्रारम्भिक रंग-विधान 'दशरूपक' में बड़े विशद् और रंगनिष्ठ रूप में किया गया है।···जब सूत्रधार पूर्वरंग का विधान करने के बाद रंगमंच से चला जाता है, तो उसी की तरह (की वेशभूषा वाला) दूसरा नट मंच पर प्रवेश कर काव्य की प्रस्थापना करे। यदि वस्तु देवता संबंधी (दिव्य) हो तो वह दिव्य रूप में मंच पर प्रवेश करे। यदि वह मानव संबंधी हो तो वह नट मर्त्य रूप में आये।

मंच पर आकर काव्यार्थ की स्थापना करते समय वह नाटक की कथा-वस्तु, उसकी 'बीज' नामक अर्थ-प्रकृति, मुख (श्लेष के द्वारा) या समुख पात्र की सूचना दे।

···स्थापक नट सर्वप्रथम काव्य के अर्थ की सूचना देने वाले श्लोकों के द्वारा रंगस्थ सामाजिकों को प्रसन्नकर, किसी ऋतु को वर्णित करते समय भारती वृत्ति का प्रयोग करे। नट के द्वारा प्रयुक्त संस्कृत भाषा वाला वाग्व्यापार भारती वृत्ति कहलाता है। इसके प्ररोचना, वीथी, प्रहसन तथा आमुख ये चार भेद पाये जाते हैं।

## नाटक के तत्व

नाटक के केवल तीन आधारभूत तत्व हैं :

कथावस्तु (इतिवृत्त)

नेता (पात्र-नायक आदि)

रस

दशरूपककार ने नाटक की रचना-विधि तथा उसके अनुष्ठान के प्रारम्भिक विधान को बताते हुए कहा है कि "सूत्रधार इस प्रकार प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख आदि किसीके द्वारा काव्यार्थ अथवा नाटकीय पात्र की सूचना दे। उसका आक्षेप तथा परिचय दे देने पर प्रस्तावना के अंत में वह मंच से निष्क्रांत हो जाय तथा तदनन्तर कथावस्तु को प्रपंचित करे।"

अतः नाटक के ही नायक तथा तत्सम्बन्धी वस्तु का ही संकेत करते हुए दशरूपककार कहता है, : "नाटक का नायक या तो प्रसिद्ध कुल में उत्पन्न राजर्षि भूपति होता है, जो उत्कृष्ट गुणों से युक्त, धीरोदात्त प्रकृति का तथा प्रतापशील होता है; वह यश तथा कीर्ति की कामना किया करता है, उत्साह से युक्त होता है तथा तीनों वेदों का रक्षक होता है अथवा नाटक का नायक कोई दिव्य देवता हो सकता है, जो इन सभी विशेषताओं से युक्त होता है। उस नायक के विषय से इतिहास-पुराणादि में प्रसिद्ध कथावस्तु को ही नाटक की आधिकारिक वस्तु रखना चाहिये। जिस इतिहास-प्रसिद्ध (प्रख्यात) वृत्त में इस तरह का, इन गुणों व विशेषताओं से सम्पन्न, नायक हो, वही वृत्त नाटक के उपयुक्त होता है।"

---

१. हिन्दी दशरूपक, पृष्ठ १५८, चौखम्बा विद्या भवन, काशी।

नाटककार ऐसे इतिवृत्त में अपनी कल्पनानुसार उसकी मूलगत विशेषताओं को नहीं बिगाड़ सकता।

नाटक की समस्त कथावस्तु की कुछ मूल स्थितियाँ होती हैं। उसे :

- पाँच अर्थप्रकृतियों
- पाँच अवस्थाओं
- पाँच संधियों में विभक्त किया जाता है।

## अर्थप्रकृतियाँ

अर्थप्रकृतियाँ कथानक अथवा इतिवृत्त के निर्माण-तत्व हैं। इन्हीं की विभिन्न स्थितियों से नाटक का कथातत्व सुगठित रूप में निर्मित रहता है। ये कुल पाँच होती हैं : बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य।

**बीज,** वृक्ष के बीज की तरह वह तत्व है, जो घटना और कार्य-व्यापार द्वारा इतिवृत्त में सहसा अंकुरित होकर नायक के कर्म और फल की ओर बढ़ता है।

**बिन्दु** वह स्थिति है, जब बीज पानी में गिरे हुए तेल की बूँद की तरह फैलता है और इस दशा में इतिवृत्त का अंकुरित बीज फैलकर व्यक्त होने लगता है।

**पताका** के अन्तर्गत पताका नामक प्रासंगिक इतिवृत्त आता है। पताका अधिकारिक कथावस्तु के साथ नाटक में बराबर चलती रहती है, सानुबंध होती है, उसे पताका कहते हैं।

**प्रकरी** में दूसरी प्रासंगिक वस्तु होती है। यह मूल कथा अथवा आधिकारिक कथावस्तु के साथ कुछ ही दूर तक चलकर सहसा रुक जाती है।

**कार्य** जिस उद्देश्य, फल-प्राप्ति के लिये नायक के कर्म का प्रारम्भ हुआ था, उसकी प्राप्ति को कहते हैं।

## अवस्थायें

अवस्थायें नाटकीय इतिवृत्त की गति को व्यक्त करती हैं। मानव जीवन कभी एक सीधी गति अथवा दिशा में चलकर अपने अंत तक नहीं पहुँचता, वरन् विभिन्न

संघर्षों तथा जीवन के आरोह और अवरोह के फलस्वरूप टेढ़ी-मेढ़ी गति से अपने उद्देश्य तक पहुँचता है। जीवन में अनेक संघर्ष हैं, दुःख हैं पर भारतीय जीवन अथवा मन इस सत्य में पूर्ण विश्वास करके चलता है कि उसे जीवन के दुखों, विरोधाभासों और, विघ्नों, संघर्षों पर अन्तत्वोगत्वा अवश्य ही विजय प्राप्त होगी। इस तरह भारतीय जीवन 'फलागम' में पूर्ण विश्वास करता है। इस जीवन के चार फल हैं, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। चतुर्वग की यही फलप्राप्ति 'अवस्थाओं' के अन्तर्गत अंतिम स्थिति में 'फलागम' की संज्ञा प्राप्त करती है। इस स्तर पर हम भारतीयों की धारणा पाश्चात्यों की तरह निराशावादी नहीं रही। इसी जीवनगत दृष्किोण के ही कारण यहाँ के 'नाटक' के नायक और उसकी चरम-सीमा(यदि कहें) में जीवन फल की प्राप्ति आवश्यक है। यही कारण है कि पश्चिम के 'ड्रामा, के विपरीत यहाँ के नाटक की पूरी प्रकृति और उसका एकान्त स्वर सदा मांगलिक और सुखान्त रहा है। किन्तु स्मरण रहे, नाटक के इस प्रकार 'सुखान्तकी' होने से इसे पश्चिम की 'कामेडीज' के अर्थ में नहीं लिया जा सकता। भारत के 'नाटक' और पश्चिम की 'कामेडीज' इन दोनों में भी जमीन-आसमान का फर्क है। 'कामेडीज' कोटि में संभवतः हमारे यहाँ के 'प्रहसन' और भाण आयेंगे।

'अवस्थायें' पाँच होती हैं : आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। ये विभिन्न अवस्थायें मूलतः कार्य की अवस्थायें हैं।

**आरम्भ** अवस्था के अन्तर्गत नायक में किसी वस्तु अथवा सत्य की प्राप्ति की इच्छा होती है, और वह नाटकीय अवस्था से सहसा नाटक में प्रकाशित हो जाता है।

**प्रयत्न**, कार्य की इस अवस्था में नायक उस वस्तु अथवा सत्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होता है।

**प्राप्त्याशा** में विघ्नादि विरोधों को विचारने के बाद नायक को तद्विषयक लक्ष्य प्राप्ति की संभावना हो जाती है।

**नियताप्ति** में उसे लक्ष्य-प्राप्ति का पूरा विश्वास हो जाता है।

**फलागम** में उसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से अपना अभीष्ट फल प्राप्त हो जाता है।

## संधियाँ

अर्थ प्रकृति तथा अवस्था के अतिरिक्त नाटक की कथावस्तु में पाँच संधियाँ

भी होती हैं। इन्हें संधियाँ इसलिये कहते हैं कि ये पाँच अर्थप्रकृतियों तथा पाँच अवस्थाओं के योग से बनती हैं। संधियों के नाम हैं, मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण। ये संधियाँ वस्तुतः कथावस्तु के स्थूल खंड कहे जा सकते हैं, स्वभावतः इनसे क्रमशः नाटक के भी स्थूल खंड हो जाते हैं। नाटक में संधियों का अभिप्राय नाटक की समस्त अर्थ-राशि को परस्पर सम्बद्ध बनाना है। बीज और आरम्भ को मिलाकर मुखसंधि होती है। बिन्दु और प्रयत्न को मिलाकर प्रतिमुख संधि। गर्भसंधि में पताका और प्राप्त्याशा होती है। विमर्श में प्रकरी और नियताप्ति होती है। और निर्वहण में कार्य और फलागम संधि होती है।

नाटक में कथावस्तु के इतने शास्त्रीय और सूक्ष्म संगठन का एकमात्र उद्देश्य था नाटक की आत्मा 'रस' की निष्पत्ति और उसका बोध। नाटक जब रंगमंच पर प्रस्तुत हो तो उसके रसास्वादन में कहीं कथानक की जटिलता, अस्पष्टता और यहाँ तक कि अप्रत्याशित और जिज्ञासा-पूर्ण कथा की स्थिति दर्शक के रस-निष्पत्तिमय मन को कहीं धक्का न दे, इसी लिए नाटक की कथावस्तु, नायक, पात्र सभी इतिहास-पुराणादि के प्रख्यात कथा-खंडों से लिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त नाटक की रचना में, उसकी सहजतम प्रकृति में दृश्य कथा-सूत्र के साथ सूच्यभाग द्वारा (रस निष्पत्ति और उसके सिद्धान्त के अनुरूप) व्यवहृत होते हैं। इस सूच्यभाग को 'अर्थोपक्षेपक' कहते हैं, क्योंकि ये सूच्य अर्थ को आक्षिप्त करते हैं। ये पाँच प्रकार के होते हैं:

विष्कम्भक
प्रवेशक
चूलिका
अंकास्य
अंकावतार।

नाटक में विष्कंभक तथा प्रवेशक का विशेष महत्त्व है और इन्हीं का प्रयोग उसमें प्रायः देखा जाता है।

## पात्र अथवा नेता

नाटक का दूसरा तत्त्व अथवा भेदक अंग 'नेता' है। पात्र के लिये 'नेता' शब्द नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के अधिक समीप है। नेता शब्द के साथ 'नायक' का सारा परिकर आ जाता है। नाटक का नायक वही बन सकता है, जिसमें विनय, शक्ति तथा अन्य गुण विद्यमान हों। नायक को नाट्य-शास्त्र में चार

प्रकार का माना गया है। यह प्रकार-भेद नायक की प्रकृति के आधार पर किया गया है। धैर्य गुण सब प्रकार के नायकों का मूलाधार तत्त्व है। 'धीरत्व' के अतिरिक्त इनमें अपनी-अपनी प्रकृतिगत विशेषताएं पायी जाती हैं। ये नायक चार प्रकार के हैं :

धीर ललित
धीर प्रशान्त
धीरोदात्त
धीरोद्धत्त।

नाटक का नायक मूलतः धीरोदात्त होगा, जो अत्यंत गंभीर, क्षमाशील, अविकत्थन, स्थिर, निगूढ़ अहंकारवाला तथा दृढ़व्रत होता है।

नाटक में नायक की ही भाँति नायिका का भी उतना ही महत्त्व है।

नाटक में नायिका की स्थिति सर्वोच्च है : स्वकीया, मुग्धा और स्वाधीन-पतिका क्रमशः सम्बन्ध, अवस्था और दशा के स्तर से ये तीनों स्वरूप नाटक की नायिका के लिये अपेक्षित हैं।

नायक-नायिका तथा नाटक के अन्य पात्र, जैसे उपनायक, विदूषक, पीठमर्द और प्रतिनायक आदि के विषय में जो इतना शास्त्रीय और सैद्धान्तिक आग्रह है, उसके पीछे उसी रस लक्ष्य की ही बात सर्वथा सिद्ध है।

## रस

'रस' नाटक की आत्मा और उसकी मंच-रचना का चरम उद्देश्य है। रस क्या है, उसकी 'रसनिष्पत्ति' पर कितने विविध मत और विभिन्न रस-सिद्धान्त संस्कृत रंगमंच में हैं—इससे संस्कृत का सारा काव्य-शास्त्र भरा पड़ा है।

भारतीय नाटक के सम्बन्ध में यहाँ केवल इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त होगा कि नाटक के दर्शन तथा उसके काव्य-श्रवण से जिस आनन्द का अनुभव हमें होता है, वही आनन्द 'रस' कहलाता है। उसकी निष्पत्ति विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के संयोग से होती है। भरत मुनि ने 'रस' की चर्वणा के साधनों के विषय में नाट्य-शास्त्र में यही मत व्यक्त किया है—'विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः'। नाटक में मुख्यतया वीर या शृंगार की अंगीरूप में तथा अन्य रसों की अंग के रूप में प्रतिष्ठा होनी चाहिये। संस्कृत-नाट्य का चरम उद्देश्य 'रस' है। इसी को लक्ष्य में रखकर संस्कृत रंगमंच की सारी रूपरेखा और रंग-शिल्प निर्मित हुआ है। 'रस' की महत्ता और अर्थ-

गौरव इतना है कि इसमें धर्म, विश्वास और पुराण तक को मिलाया गया है। हर रस का स्थायी भाव, उसके संचारी, उसके देवता, उसके रंग निश्चित हैं। और रस आधार से ही संस्कृत नाटक, उसकी वृत्ति तथा उसकी प्रदर्शन-पद्धति, इन सबका निश्चय होता है।

| रस | स्थायीभाव | रंग (वर्ण) | देवता |
|---|---|---|---|
| शृंगार | रति | श्याम | विष्णु |
| हास्य | हास्य | उज्ज्वल | राम |
| रौद्र | क्रोध | लाल | रुद्र |
| वीर | उत्साह | लाल | इन्द्र (शक्र) |
| करुण | शोक | भूरा | वरुण |
| भयानक | भय | काला | यम |
| बीभत्स | जुगुप्सा | नीला | महाकाल |
| अद्भुत | विस्मय | पीला | ब्रह्मा |

इससे सम्बन्धित 'वृत्ति' वह मुख्य तत्त्व है जिससे नाट्य-लेखन और प्रदर्शन-विधि सीधे सम्बन्धित हैं। ये वृत्तियाँ चार हैं—कौशिकी, सत्यवती, आरभटी और भारती।

कौशिकी, सत्यवती और आरभटी—ये तीनों वृत्तियाँ शृंगार, वीर और रौद्र रस में आती हैं। इन तीनों का सम्बन्ध नाटक और रंग में घटना और स्थिति-निर्माण से भी है। भारती वृत्ति शेष सब रसों में है, तथा इसका संबंध नाटक और रंग में कथोपकथन तथा भाषा-प्रयोग से है।

उदाहरण के लिए प्रेमिका द्वारा प्रेमी के बनाए हुए चित्र का प्रकट होना और सहसा उसके भेद का खुलना, यह घटना और स्थिति 'कौशिकी' है। जाली प्रमाण से किसी को धोखा देना, किसीके प्रति विश्वासघात करना, यह 'सत्यवती' है—गंभीर और गहन स्थिति, भयानक युद्ध, दुर्घटना यह सब 'आरभटी' में आता है।

## नाटक में रंग-वर्जित सत्य

नाटक का प्राण रस है और यही रस-निष्पत्ति उसके समस्त रंग-सिद्धान्तों को परिचालित करती है। इसके अनुसार नाटक के व्यावहारिक रंगपीठ पर कुछ बातों का प्रदर्शन वर्जित माना जाता है। इनके पीछे भी यह भाव है कि दर्शक-वर्ग की ओर से इन सत्यों के कारण उसकी रसचर्वणा-शक्ति में स्वभावतः

किसी प्रकार की बाधा न पहुँचे। इसके लिए मूलतः निम्नलिखित सत्य मंच-अनुष्ठान में वर्जित हैं।

(अ) **वर्जित दृश्य :** दूर का मार्ग, वध, युद्ध, राज्य और देशविप्लव, घेरा डालना, भोजन, स्नान, सुरत, अनुलेपन, और वस्त्र ग्रहण आदि।

(ब) **वर्जित कार्य** : अधिकारी नायक का वध तो मंच पर किसी भी प्रकार नहीं दिखाना चाहिये।

## नाटक का स्वरूप और प्रकृति

नाटक अपने शारीरिक विस्तार में पाँच अंक से दस अंक तक का हो सकता है। पाँच अंकों का नाटक प्रायः छोटा नाटक माना जाता है। कारण, नाटक के मूलरूप में जैसे कहीं महाकाव्यत्व का भाव बैठा हुआ है। नायक द्वारा चारों फलों की प्राप्ति, उसके चरित्र और कर्म-रेखाओं में इतना धैर्य, इतना आदर्श भाव, इतनी उदात्त चेतना और शौर्य—निश्चय ही इस सबके पीछे यह लक्ष्य था कि नाटक ऐसा दृश्यात्मक महाकाव्य है जिससे जाति और राष्ट्र को मर्यादा और आदर्श प्राप्त होते हैं। नाटक के विषय में, उसकी रचना और उपस्थापना में इतने निश्चित सिद्धान्त और नियम बने हैं—सम्भवतः उसके पीछे नाटक की यही अतुल मर्यादाएं कार्य कर रही थीं।

एक अंक में एक ही दिन, एक ही कार्य-प्रयोजन की बात प्रकट होती है। प्रत्येक अंक का नायक से किसी न किसी भाँति सम्बन्धित होना निश्चित है। नायक के अतिरिक्त एक अंक में दो-चार पात्र और भी हो सकते हैं। किन्तु इन पात्रों का अंक के अन्त में मंच से प्रस्थान होना आवश्यक है। 'दशरूपक' के अनुसार नाटक के रूप-विधान के इन मूल लक्षणों के अतिरिक्त, प्रत्येक अंक में पताका-स्थानकों का समावेश हो तथा इसमें अवस्था और अर्थप्रकृति के मूलभूत सिद्धान्तों से सन्धि-नियम का पालन हो।

नाट्यशास्त्र में 'नाटक' की पूर्ण परिभाषा निष्कर्ष रूप में इस प्रकार हैं :

**प्रख्यातवस्तुविषये प्रख्यतोदात्त नायकं चैव।**
**राजर्षिवंशचरितं तथैव दिव्याश्रयोपेतम् ॥१०॥**
**नाना विभूतिसंयुक्तमृद्धिविलासादिभिर्गुणैश्चैव।**
**अंकप्रवेशकाढ्यं भवति हि तन्नाटकं नाम ॥११॥**

**नृपतीनां यच्चरितं नानारसभावसंभृतं बहुधा।**
**सुखदुःखोत्पत्तिकृतं भवति तन्नाटकं नाम ॥१२॥**(अध्याय १८)

अर्थात् जिसका इतिवृत्त प्रख्यात और नायक राजवंश का पुरुष हो, जिसे दिव्याश्रय प्राप्त हो, जो नाना विभूति एवं विलासादि गुणों से संयुक्त हो, जिसमें उपयुक्त संख्या वाले अंक और प्रवेशक हों, जिस काव्य में राजाओं के चरित्र, उनके क्रिया-कलाप, उनके सुख-दुःख से अनेक भावों और रसों का आविर्भाव हो, वह नाटक कहलाता है।

## धर्मिताएं

संस्कृत अथवा हिन्दू रंगमंच में दो प्रकार की निश्चित नाट्य-धर्मितायें थीं :

१. नाट्य-धर्मी
२. लोक-धर्मी

संस्कृत नाटक के प्रसंग में गत पृष्ठों में इतिवृत्त, नायक और रस के स्तर से जितनी चर्चा हुई है, और उसके अन्तर्गत नाट्य सम्बन्धी जितने नियमों और सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है, वे सब नाट्य-धर्मी के उदाहरण हैं।

भरत का सारा नाट्य-शास्त्र नाट्यधर्मी रूढ़ियों का ही विशाल ग्रन्थ है। परन्तु निष्पक्ष बात नाट्य-शास्त्र के लिये यह है कि उसके शास्त्रकार ने उस विशाल ग्रन्थ के यत्र-तत्र कतिपय उल्लेखों और प्रसंगों के माध्यम से इस बात को कभी नहीं भुलाया है कि 'नाट्य' की वास्तविक प्रेरणा-भूमि लोक-जीवन है, और उसकी वास्तविक कसौटी भी लोकचित्त है। लोक में असंख्य प्रकृतियाँ हैं, अतएव नाट्य-प्रयोग के लिये लोक ही प्रमाण है, क्योंकि इस प्रकार साधारण जनता के आचरण में ही नाटक की प्रतिष्ठा है। यह 'लोकधर्मप्रवृत्ति' ही लोक-नाटक का नियामक है।

नाट्यशास्त्र के इक्कीसवें अध्याय में शास्त्रकार ने दोनों नाट्यधर्मिताओं के विषय में स्पष्ट कहा है :

**लोकधर्मी भवेत्त्वन्या नाट्यधर्मी तथापरा।**
**स्वभावो लोकधर्मी तु विभावो नाट्यमेव हि ॥२०३॥**

संक्षेप में, जो स्वाभाविक है, अर्थात् जो (मानव) स्वभाव है वह लोक-धर्मी है, और जो विभाव है (कला द्वारा जो कृत्रिम है) वह नाट्य-धर्मी है। नाट्य-धर्मी को साधारणतः नृत्य नाटक भी कहते हैं। प्राचीन भारत में यही वह

विशेष नाट्य शैली थी, जिसने कालिदास और श्री हर्ष को उत्पन्न किया था। यही नाट्यधर्मी अथवा आदर्शात्मक एवं कलात्मक प्रविधि थी, जिसने संस्कृत नाटक को कविता, संगीत, तथा नृत्य-धर्मित सर्वतोमुखी कला बना दिया, जो भारतीय रंगमंच की एक विशेष उपलब्धि है। भरत ने इस प्रकार की सृष्टि को अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठ और कलात्मक मानकर इसे 'आभ्यन्तर' कहा और दूसरी सहज सृष्टि (लोकधर्मी) को अल्पकलात्मक मानकर 'बाह्य' कहा है।

संस्कृत काल के, राजकीय संरक्षण में होनेवाली तथा उस युग के सामंत तथा आभिजात्य दर्शकवर्ग से पोषित नाट्य-धर्मिताएं स्वभावतः नाट्यधर्मी थीं। 'नाट्य शास्त्र', 'दशरूपक' और 'अभिनयदर्पण' आदि में नाटक, अभिनय, दर्शक, रस आदि के स्तर से जितने क्लिष्ट सिद्धान्त और शास्त्रीय मर्यादाएं उनमें दी हुई हैं, उन सब शास्त्रीय गुणों का निर्वाह नाट्यधर्मी नाट्य में अनिवार्य था।

संस्कृत 'नाटक' नाट्यधर्मी परम्परा और शास्त्र का प्रतीक है। पर इस शास्त्रीय नाटक से अलग जो सहज जीवन, सहज उल्लास का नाटकीय माध्यम था, जिसकी समूची रचना-पद्धति अकृत्रिम थी, उस 'लोक-नाटक' का क्या व्यावहारिक रूप और उदाहरण था, शास्त्रीय नाटक की भाँति उसे जानने में हम उतने सफल नहीं हैं।

प्रथमतः स्वयं नाट्य-शास्त्र में लोकधर्मी नाट्य-परम्परा के विषय में दो-एक श्लोकों के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा गया है। 'स्वभावो लोकधर्मी' में ही जैसे उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को स्पष्ट कर दिया गया है। इससे आगे मानो उसके विषय में कुछ कहना अपेक्षित ही नहीं था। वस्तुतः जो 'स्वभाव' है, उसके विषय में और विशेष कैसे कोई शास्त्रकार कुछ कह सकता है। हाँ, जो कलानिष्ठ है, कला और शास्त्र के तत्त्वों तथा आग्रहों को जो लेकर चलता है, निश्चय ही उसके विषय में शास्त्रीय सिद्धान्तों तथा नियमों को पारित करना होगा और उन शास्त्रीय गुणों का निर्वाह उसमें अपेक्षित होगा। तभी सारा नाट्यशास्त्र केवल नाट्यधर्मी रूढ़ियों तथा सिद्धान्तों का विशाल ग्रन्थ है।

तो 'लोकधर्मी' क्या है, उसकी परिभाषा तथा क्षेत्र क्या है, इसके विषय में केवल तेरहवें अध्याय के अन्तर्गत नाट्य-प्रवृत्ति-प्रसंग के अंत में अनेक श्लोक दिये गये हैं। इसके पीछे निश्चय ही लोकधर्मी नाट्य-परम्परा के प्रति शास्त्रकार का कोई, किसी प्रकार का अवज्ञाभाव नहीं था। क्योंकि नाट्य-शास्त्रकार ने, जैसा कि पहले कहा गया है, इस बात को कहीं नहीं भुलाया है कि वास्तविक नाट्य-

क्षेत्र, और उसकी प्रेरणा-भूमि लोक-जीवन है और उसकी वास्तविक कसौटी भी लोकचित्त ही है।

लोक-नाटक में जन-जीवन, उसकी उमंगों और भावनाओं की अभिव्यक्ति स्वाभाविक थी, अतः लोक-नाटकों का कोई भी शास्त्र शास्त्रीय पद्धति से नहीं बाँधा जा सकता। जो सीमित है, जो कला के नियमों के अन्तर्गत है, शास्त्र उसी पर लागू हो सकता है, क्योंकि उसका क्षेत्र निश्चित है। पर जो असीम जीवन-परक है, जो इस स्थावर, जंगम, चराचर सृष्टि को परम स्वाभाविक ढंग से अपने संग लेकर चलने वाला हो, उसका कोई भी शास्त्र कैसे और कहाँ तक हिसाब लगा सकता है, अथवा उसकी बातें बना सकता है। संसार में सैकड़ों प्रकार की भाव-चेष्टाएं हैं, निश्चय ही जन-जीवन में, मनोरंजन की अबाध सहज प्रवृत्ति में, उनकी सनातन परम्परा में उसका हिसाब-किताब अलिखित ही होगा। अतएव लोक-नाटकों का परीक्षण, आकलन तथा अवधारणा 'नाट्य-शास्त्र', 'अभिनय दर्पण' और 'दशरूपक' आदि के आधारों से कभी नहीं हो सकता।

## लोकधर्मिता

लोकधर्मी नाट्य-परम्परा का प्रधान लक्षण है—स्वाभाविक ढंग से प्रकट हुआ, उजागर किया हुआ।

लोकधर्मी में भी दो भेद हैं : शुद्ध स्वाभाविक और विकृत स्वाभाविक। पर इन दोनों का मूलाधार वही एक ही तत्त्व—लोकवार्ता तथा लौकिक क्रियाएं (चेष्टाएं) दोनो हों। (अभिनय पक्ष में) अंगलीला नहीं होनी चाहिये ?[1]

अभिनय पूर्णतः स्वाभाविक हो और उसमें (लोक-नाटक में) नाना प्रकार के स्त्री-पुरुष पात्र हों…इस प्रकार का जो नाट्य है, वह लोकधर्मी है—ऐसा नाट्यशास्त्र कहता है।[2]

संस्कृत नाट्य-परम्परा, लोक-नाटक और लोक-रंगमंच के फलस्वरूप यथार्थ-

---

१. स्वभावभावोपगतं शुद्धं तु विकृतं तथा
लोकवार्ता क्रियोपेतमङ्गलीलाविवर्जितम् ।।७१।।

२. स्वभावाभिनयोपेतं नाना स्त्रीपुरुषाश्रयम् ।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु सा स्मृता ।।७२।।
(नाट्यशास्त्र, तेरहवां अध्याय)

वाद के तत्त्वों से शून्य नहीं है। लोक को ही भरत ने बारम्बार 'प्रमाण' कहा है। उसमें जीवनगत चरित्रों का अध्ययन है और यथोचित सहज और विविध भाषाओं तथा बोलियों का प्रयोग भी है।

नाट्यधर्मी रूढ़ियों तथा उसके अन्यान्य शास्त्रों के प्रसंग में रूप-सज्जा, वेशभूषा, विभिन्न अभिनय-रीतियों एवं प्रकारों तथा केश-रचना-विधि और आभूषण आदि का विस्तृत अध्ययन नाट्यशास्त्र में मिलता है। किन्तु इसके बावजूद भरत ने अनुभव किया है कि मंच पर अभिनय की अपनी सीमाएं हैं। इन्हीं शास्त्रगत सीमाओं को तोड़कर अभिनय और अनुष्ठान के क्षेत्र को सहज कर उसे जीवन की भाँति असीम कर लेना लोक-नाटक की सबसे बड़ी देन है।

संस्कृत रंगमंच में नाट्य-धर्मी और लोक-धर्मी इन दो विभिन्न नाट्य-धर्मिताओं के फलस्वरूप इसका रंगमंच, कला और सहज जीवन इन दो विभिन्न मूल्यस्तरों तथा रंगक्षेत्रों से विराट रहा है।

लोक-जीवन—उत्सव और त्यौहार अथवा अन्य कोई भी सामान्य कारण हो, लोक-नाटक का सहज अनुष्ठान जैसे उमड़ पड़ता है। क्योंकि इसमें मंच तथा अन्य रंग-प्रसाधनों की कोई विशेष औपचारिक तैयारी नहीं करनी पड़ती।

## लोक-नाटक की परम्परा और नाट्य-रूढ़ियाँ

लोक-नाटक का तंत्र और रचना-विधान शास्त्रीय नाटक के स्तर से कभी नहीं लिया जा सकता। इसमें शास्त्र के स्थान पर लोक-परम्परा और चिर विकसित नाट्य-रूढ़ियाँ मूल्यवान हैं। फिर भी तात्त्विक दृष्टि से इसमें निम्न-लिखित तत्त्व प्राप्त होते हैं—

गीत
नृत्य
पुराण (मिथ) तथा यथार्थ जीवन-प्रसंग
और लोक-कथा।

लोक-नाटक के कथानक, इतिवृत्त तत्त्व में किसी प्रकार से भी शास्त्रीय नाटक के कथातत्त्व में अपेक्षित 'कार्य-अवस्थाओं', 'अर्थ प्रकृतियों' और 'संधियों' की आवश्यकता नहीं पड़ती। एक के बाद दूसरी घटना गीत और नृत्य के ताल-मेल से घुलती-मिलती हुई आगे बढ़ती है, कभी व्यवस्थित ढंग से तो कभी नितांत अव्यवस्थित ढंग से—जैसे जीवन में कर्म-लेखों तथा घटनाओं की स्थिति है। तभी लोक-नाटक को जीवन और प्रकृति की सहज 'प्रतिच्छवि' की संज्ञा मिली है।



लोक नाट्य



लोक रंगमंच

शास्त्रीय नाटक कला, दर्शन और काव्य-तत्त्वों के समन्वय से विकसित हुआ है, पर लोक-नाटक जीवन और आनन्द तत्त्व को लेकर उजागर हुआ है। यह वस्तुतः हमारे जीवन के साथ ही उपजा है, हमारे मन और संस्कार के साथ, हमारी सहज जीवनशक्ति से।

इसका मंच जीवन के बीच अपने आप रच उठता है। चारों ओर जन-परिधि में घिरकर, कहीं भी, किसी स्थान पर—नदी या जलाशय के तट पर, खेत-खलिहान में, किसीके द्वार पर, किसी उपवन के रम्य मार्ग में, किसी वृक्ष तले इसका मंच अपने आप उभर आता है। न इसमें पट-परिवर्तन के प्रसाधन की अपेक्षा है, न दृश्य-परिवर्तन की आवश्यकता। वही चारों ओर से दर्शक-खचित मंचपीठ राजमहल है, दीन की कुटी अथवा गृहस्थ का घर है। वही दूसरे की क्षण विदेश हो गया, राजसभा युद्धभूमि हो गई और विरह-भूमि और मिलन-मंदिर में परिणत हो गया। जैसे महादर्पण को ज्यों-ज्यों घुमाइये, त्यों-त्यों उसमें विराट जीवन की बहुरंगी प्रतिच्छवि अपने-आप खिंचती चलती है, ठीक उसी प्रकार लोक-रंगमंच की, उसके अनौपचारिक, आग्रहहीन मंचपीठ और अन्ततः उसके सहज रंगमंच की प्रकृति है। लोक-रंगमंच के दृश्यपक्ष, उसके सम्पूर्ण वास्तुपक्ष के स्वप्नद्रष्टा जैसे दर्शक वर्ग हैं। लोक-नाट्य और उसके रंगमंच का दर्शक केवल दर्शक ही नहीं है, वह उस रंगमंच का सक्रिय अभिन्न भाग भी है—उसका संरक्षक और रसरंजक दोनों।

शास्त्रीय नाटक के मंचपीठ और दर्शक की रंगशाला के बीच जिस पर्दे का विधान है—जो अंक और दृश्यान्तर से खुलता और बन्द होता रहता है, उससे नाटक के दर्शक और उसके मंच की तथा लोक-नाटक के दर्शक तथा मंच की स्थितियों में ज़मीन-आसमान का अन्तर हो जाता है। नाटक का दर्शक तथा उसकी मंच-स्थिति औपचारिक है—वह नाट्य-अनुष्ठान का महज़ दर्शक है—रसज्ञ दर्शक—किन्तु उसके और रंगपीठ के बीच में अन्तर है। यह अन्तर आधुनिक रंगमंच में इस प्रसंग से उत्तरोत्तर बढ़ता गया है। लोक-रंगमंच में कुछ भी कहीं से भी कुछ औपचारिकता, दूरी नहीं है। यहाँ तक कि प्रवेश और प्रस्थान भी अनौपचारिक हैं। सब कुछ मान लिया हुआ, सबकी सजीव परिकल्पना पूरी की हुई। सब कुछ इतना यथार्थ, इतना यथार्थ कि सब यथार्थ का भ्रम ही उठ जाय और दर्शक उसका अविच्छिन्न अंश होकर उसमें जैसे रंगरत हो जाय। क्योंकि लोक-मंच पर वह जो कुछ देख रहा है, वह सब कुछ जैसे अपनी यथार्थ प्रतिच्छवि देख रहा है। और उसके जीवन की जो क्षति थी, शायद वह वहाँ पूर्ति पा रही हो।

जब समाज से घिरे हुए, अविभक्त मंच पर वह प्रत्यक्ष दिख रहा है, नाटक के सुख में प्रसन्न, गीत गाता हुआ, वही अभिनेता के सुर में सुर मिलाता हुआ,

और वहीं सीधे उसके दुख में, करुणा में सौ-सौ आँसुओं से रोता हुआ। उसने देखा धनी को कृपण-शोषक, डाकू को उदार। उसने पाया कि सत्य बोलनेवाला कितना कष्ट भोगता है—उसी सनातन सत्य में वह रो उठता है। पर वह किस प्रकार पुनः जी जाता है, अपने मन को तब वह ओजस्वी पाने लगता है, जैसे वह देखता है कि अमुक को तब स्वर्ग मिला, अमुक का अपने प्रेमी-जन से इस जीवन में न सही, उस जीवन में तो मिलन हुआ, सुख और आनन्द मिला। 'हे ईश्वर, जैसे उस राजा की, उस प्रेमी की, सती की, वीर पुरुष और सत्यव्रत-धारी की मनोकामना पूरी हुई, हे प्रभु, उसी भाँति सबकी इच्छा-मनोकामना पूरी हो।' यह दर्शन-मंत्र, उसके संस्पर्शित मन का आशीष लोक-रंगमंच की अपनी परम्परागत विशेषता और उसकी एकांत शक्ति है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

## अनुष्ठानगत कुछ रंग-परम्पराएं

- मंच के लिये दर्शक-खचित उसी के बीच की धरती, अथवा दर्शक सहित कोई भी निरपेक्ष स्थान।
- रूप-सज्जा के लिये कुमकुम, खड़िया, गेरू, काजल और मुर्दाशंख।
- प्रकाश के लिये मशाल।
- वस्त्र-सज्जा के लिये सामान्य कपड़े—पर गीतों की कड़ियों में लिपटकर वे पात्रानुकूल अनुभूत होने लगते हैं।
- कभी-कभी चेहरों पर मुखौटे, और अतिरिक्त रूप-सज्जा।
- रंग प्रसाधन के लिये सही वस्तु की नकल—जैसे घोड़े के लिये काठ का घोड़ा और उसपर बैठा हुआ जैसे यथार्थ सवार।
- गति और कार्य से दृश्य, स्थान, काल तथा उसके परिवर्तन का सहज बोध।

## लोकनाट्य रूढ़ियाँ

लोक-नाटक अथवा रंगमंच में शास्त्रीय नियम उस प्रकार नहीं हैं। पर इस प्रकार की 'नाट्यहीनता' रंगशास्त्र-विहीनता और मंचगत, दृश्यगत औपचारिक तत्त्वों के अभाव से यह मतलब नहीं कि लोक-नाटक में कोई रूढ़ियाँ

ही नहीं। रूढ़ियाँ हर प्रकार की नाट्य-कला तथा रंग-प्रकार के लिये आवश्यक हैं, बल्कि रूढ़ियाँ स्वभावतः उनमें धर्मनिष्ठ रहती हैं। हाँ, लोक-नाटक—रंग-मंच के प्रसंग में इसकी रूढ़ियाँ अलिखित ही रहती हैं।

- दृश्यों और अंकों के स्थान पर नाटकीय व्यापार के पूर्ण अंश।
- नाटक की रचना-विधि में एक प्रकार की शिथिलता, जिसके भीतर स्वाँग, नकल, आशुसंवाद तथा हास्य-व्यंग के लिये क्षेत्र प्राप्त होना होता है—जिससे लोक-नाटक में सामाजिक चेतना और उसका तीव्र स्वर उभर जाता है।
- दृश्य समायोजन का अतिविश्वासी रूप—दर्शकों के बीच में कहीं कुछ भी औपचारिक नहीं।
- उन्मुक्त मंच के कारण नाट्य-व्यापार की अनुकृति में सहज सीधापन।
- संगीत और नृत्य के सहज तत्त्व।

लोक-नाटक तथा इसके रंगमंच की रूढ़ियों तथा इसकी परम्पराओं के अध्ययन से जो बात सबसे अधिक आकर्षक और जीवन्त लगती है, वह है इसकी इस दिशा में अबाध गतिशीलता। परिवर्तित होते हुए सामाजिक प्रसंग और परिप्रेक्ष्य के साथ उसकी रूढ़ियाँ भी सदा परिवर्तित और विकसित होती रहती हैं। इसका फल यह भी हुआ है कि आंचलिक तथा क्षेत्रीय जन-प्रकृति तथा वहाँ की मनोरंजन पद्धति के अनुसार एक ही लोक-नाटक के विविध रूप और शैलियाँ देश में विकसित हो जाती हैं। और उनके सामूहिक अध्ययन से लोक-रंगमंच की अतुल शक्ति का आभास मिलता है।

## नाटक के प्रमाण

नाटक और उसके शास्त्रीय रंगमंच में शास्त्रकार ने उसकी सम्पूर्ण और एकांत सफलता के लिये निम्नलिखित तीन सत्यों को प्रमाण माना है—

- लोक धर्म
- वेद, और
- अध्यात्म।

जो भी शास्त्र, धर्म, शिल्प और आचार या लोक-धर्म-प्रवृत्त है, वह नाट्य है।[1]

---

१. यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि याः क्रियाः।
लोकधर्मप्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्तितम॥

पिछले पृष्ठों में लोक-नाटक तथा उसके विशेष रंगमंच के विषय में जो चर्चा हुई है, वह उसकी अपनी विभिन्न धर्मिता और रूढ़ियों के प्रसंग में है।

यहाँ नाटक से सम्बन्धित जिस रंगमंच के प्रमाण की बात उठ रही है, वह 'लोक-धर्म' का सत्य है, 'लोक-तत्त्व' का नहीं। लोक-धर्म से यहाँ तात्पर्य है मानव-धर्म से, जो दर्शक के रूप में रंगमंच का अंग सिद्ध होता है। क्योंकि नाटक की सफलता का प्रमाण लोकरंजन में है। इसी आधार पर शास्त्रकार ने नाट्य-अनुष्ठान की सफलता दो स्तरों से मानी है—

○ मानुषी

○ दैवी।

मानुषी सफलता का मूलाधार लोकधर्म का पालन और उसका सफल निर्वाह है। यह मानुषी सफलता विशेषतया अभिनय की कुशलता से प्राप्त होती है। अर्थात नाट्य-अनुष्ठान के समय अभिनेता से पात्र का अनुभावन, फिर उससे उसके पात्रगत दुःख-सुख से दर्शक का प्रत्यक्ष सत्याभास और उसके समस्त आवेगों के साथ प्रतिभावन। जब दर्शक हास्य-स्थिति में हँस पड़े, रुदन-क्षणों में रो पड़े और नाटक की भावानुभूति के समय रोमांचित तथा गदगद् हो, वह 'अहो-अहो साधु···साधु···हा कष्टम्' कह उठे।

दैवी सफलता का प्रमाण है किसी प्रकार का दैवगत विघ्न न पड़ने का, जैसे कहीं नाट्य-अनुष्ठान के समय भूकंप न आ जाए, भयानक वर्षा न आ जाए, कोई घायल, आहत अथवा बीमार न हो जाए।

'वेद' से तात्पर्य नाट्यवेद अथवा नाट्य-शास्त्र के नियमों तथा सिद्धान्तों से है। इनका यथासंभव पालन उसकी सफलता के लिए परम आवश्यक है।

'अध्यात्म' से मतलब रंगमंच क्रिया-कलाप में अन्तर्निहित उस तत्त्ववाद से है, जो अभिनेता, नाटककार और रंगशिल्पी को सदैव इस सत्य के प्रति सचेत-सजग रखता है कि वह जो कुछ रंग-कर्म रहा है, वह कुछ अन्य नहीं, बल्कि पूजा है, देवाधिदेव शंकर की साधना है।

संस्कृत अथवा हिन्दू (भारतीय) रंगमंच की पूर्ण सफलता के प्रमाण में इस प्रकार जहाँ एक ओर लोक-धर्म का सत्य है, वहाँ दूसरी ओर रंग-कलाकार और नाट्य-कर्मी की दृष्टि उसके अध्यात्म तत्त्व पर भी है। एक ओर मानव-धर्म, दूसरी ओर ईश्वर-धर्म, ताकि कहीं से कुछ एकांगी और एकपक्षीय न रह जाय।

## नाट्यांग

भारतीय रंगमंच में नाटक के चार अंग हैं:—

१. पाठ्य
२. गीत
३. अभिनय, और
४. रस।

नाटक के इन चार अंगों की अन्विति में पूर्णरूप से संस्कृत रंगमंच की प्रकृति का संकेत है। जिस रंगमंच का प्राण रस है, उद्देश्य आनन्द और फल प्राण है, स्वभावतः उसके नाटक के अंगों में ऐसे ही तत्त्व होंगे, जो उस सिद्धि के फलदायक हों। नाट्यांग में 'गीत' और 'रस' इन दो मूलभूत अंगों का होना वस्तुतः उसमें अन्तर्भूत रंगमंच की महिमा है। काव्यांश रस-निष्पत्ति का व्यावहारिक अंग है, फलतः नाट्यांग में पाठ्य का स्थान सर्वप्रथम है।

## नाटक के विषय

नाटक का विषय सदैव नाटक की प्रकृति और उसकी आत्मा के अनुरूप होता है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों नाटक की अन्तर्भूत आत्मा में विकास होता चलता है, स्वभावतः उसकी विषय-वस्तु में भी परिवर्तन होता रहता है।

भारतीय नाटक की आत्मा रस है—जिसका मूलाधार भावजगत् है। यही भाव-जगत् रस का आधार है। नाट्य-शास्त्र में भरत ने ब्रह्मा के मुख से, जिनके पास देवतागण पीड़ा और क्लेश से ग्रस्त संसार के लिये आनन्द की याचना करने गये थे, कहलाया है: 'त्रैलोकस्य सर्वस्य नाट्यभावानकीर्तनम्'; यह 'नाट्य' तीनों लोकों के भावों का अनुकरण है। इसमें व्यापक मानवता के भाव रहते हैं। इसमें मानवता से संबंधित विषय प्रसंग के साथ-ही-साथ तद्विषयक भाव की प्रधानता भी रहती है। और यह भाव की प्रधानता लोकवृत्त के अनुकरण पर आश्रित रहती है:

**नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।**
**लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥**

नाटक की प्रकृति और इसके उद्देश्य से इसके विषय-क्षेत्र का स्पष्ट संकेत मिल जाता है। "अर्थात् नाटक वह दृश्य-काव्य है जो प्रत्यक्ष, कल्पना तथा

अध्यवसाय का विषय बन सत्य एवं असत्य से समन्वित विलक्षण रूप धारण करके सर्वसाधारण को आनन्दोपलब्धि कराता है।"

शास्त्रकार (नाट्य-शास्त्रकार) ने नाटक के विषय-प्रसंग में कहा है :

**देवतानां मनुष्याणां राज्ञां लोकमहात्मनाम् ।**
**पूर्ववृत्तानुचरितं नाटकं नाम तद्भवेत् ।।**

अर्थात् देवता, मनुष्य, राजा एवं महात्मा के पूर्ववृत्त को नाटक के विषय-क्षेत्र में लेना है। राजा, मनुष्य और ऋषि का वृत्त स्वभावतः उदात्त भाव-विषयों का क्षेत्र है, जिसमें दया, क्षमा, त्याग के आदर्श तत्त्व प्राप्त हैं। इसके साथ ही उनमें मानवीय गुण-दोष, श्रद्धा-मोह, काम-धर्म, विद्या-अविद्या, चैतन्य आदि तत्त्व भी यथासंभव समाहित होते हैं। पर सदैव इस शर्त पर, कि कहीं से भी नाटक के नायक के चरित्र का उदात्त पक्ष आहत न हो। इसके लिये 'ऋषि शाप', 'दैव संयोग' आदि की अवतारणा करनी पड़ती है। शास्त्रकार ने जहाँ नाटक के लक्षणों में पाँच संधियों, चार वृत्तियों, चौंसठ अंगों, छत्तीस लक्षणों—अनेक नाटकालंकारों की चर्चा की है, वहाँ उसने नाटक के विषय में यह संकेत किया है कि वह अत्यन्त सरस, उत्तम भावों से समन्वित, चमत्कारपूर्ण रचना (प्रसंग) से पूर्ण, महापुरुषों के सत्कार से युक्त, आदर्श आचरणमय, संधियों से युक्त, प्रयोगों में रमणीय, सुख का आश्रय, मृदुल शब्दों से समन्वित (रचना) हो।[1]

इसी लिये नाटक के लिये पौराणिक और ऐतिहासिक कथा तथा उदात्त चरित्र का विषय अनिवार्य माना गया है—क्योंकि नाटक के द्वारा समाज और राष्ट्र को आदर्श का पाठ पढ़ाना था। नाटक में प्रत्यक्षतः असत् वाक्यों, कुसत्यों की प्रधानता का मतलब, नाटक के समूचे रूप और मर्यादा और उद्देश्य की ही सर्वथा क्षति थी। जीवन के इस यथार्थ पक्ष की अभिव्यक्ति के लिये एक दूसरी ही नाट्य-परम्परा—लोकधर्मी थी। और रूपक के भेदों में 'नाटक' से इतर अन्य प्रकार थे जैसे प्रकरण, भाण आदि।

पर शास्त्रीय नाटक के विषय सदैव उदात्त मूल्यों, जीवन-आदर्शों तथा महिम कथा और प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न, धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान, राजर्षि, दिव्यादिव्य पुरुष-चरित्रों के ही बीच से ग्रहण किये जा सकते थे, ताकि इसमें

---

१. पंच सन्धिचतुर्वृत्तिचतुः षष्ट्यंगसंयुतम् ।
षटत्रिंशल्लक्षणोपेतमलंकारोपशोभितम् ।।
महारसमहाभोगमुदात्त रचनान्वितम् ।
महापुरुष सत्कार साध्वाचारं जनप्रियम् ।।
सुश्लिष्टं संधियोगं च सुप्रयोगं सुखाश्रयम् ।
मृदुशब्दाभिधानं च कविः कुर्यात्त नाटकम ।।

विलास, आनन्द, समृद्धि आदि गुणों और तत्त्वों तथा अनेक रसों का समावेश हो सके, विशेषकर शृंगार अथवा वीर प्रधान रस के रूप में—ताकि समाज को नाटक से आनन्द मिल सके—उसमें ऐसे आदर्शों की स्थापना हो, जो जातीय गुणों तथा राष्ट्रीय मर्यादाओं के उज्ज्वलतम उदाहरण हों।

नाटक अपने विषय-क्षेत्र में आदर्श मानव मूल्य तथा मानवता के उदात्त रूप की अभिव्यक्ति को लक्ष्य मानकर चला—जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'।

जो रूपक-प्रकार समाज की अपेक्षाकृत वास्तविक रूप-रचना के आधार से चला, उसे 'प्रकरण' की संज्ञा मिली है—जैसे शूद्रक-रचित 'मृच्छकटिकम्'।

## नाट्यगत मान्यताएं और भारतीय जीवन-दर्शन

हिन्दू रंगमंच और उसकी इतनी उदात्त नाट्यगत विशेषताओं तथा मान्यताओं के पीछे वस्तुतः भारतीय जीवन-दर्शन की अन्तःप्रेरणा कार्य कर रही है। इसके साथ-ही-साथ यहाँ की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि उसकी चेतना में कार्यरत है। ये शक्तियाँ इतनी विशाल, तथा जीवन-निष्ठ हैं कि इनसे भारतीय नाटक अथवा रंगमंच ही नहीं, अपितु इसकी समस्त कलाओं में जो एकांत मौलिक जीवन-स्तर उठता है, वह मुख्यतः पश्चिम के लिये आश्चर्यजनक है। इसके साहित्य में, नाटक अथवा रंगमंच में, कलाओं में कहीं भी, किसी भी स्तर से असन्तोष या मृत्यु का भाव नहीं है। पुनर्जन्म और कर्मफल में आस्था के फलस्वरूप यह समूचा जीवन और जगत् अपनी वास्तविकता सहित उचित और सामंजस्यपूर्ण है। यदि दुःख है तो इसमें असन्तुष्ट होने का कोई हेतु नहीं, क्योंकि मनुष्य इस जगत् में अपने किये का फल भोगने को आया है। इस तरह असन्तोष के अभाव ने सामाजिक वातावरण को आनन्द, उल्लास और उत्सव के अनुकूल बना दिया है। यही कारण है कि भारतीय चित्त इन उत्सवों को केवल थके हुए दिमाग का विश्राम नहीं समझता, यह इसे मांगल्य मानता है। नाच, गान, नाटक केवल मनोविनोद नहीं हैं, परम मांगल्य के जनक हैं, इनको विधिवत् करने से गृहस्थ के अनेक दुख और विघ्न नष्ट होते हैं। पाप क्षय होता है और सुललित फलोंवाला कल्याण होता है :

**मांगल्यं ललितञ्चैव ब्रह्मणो वदनोद्भवम्।**
**सुपुण्यं च पवित्रं च शुभं पापविनाशनम्॥**

(नाट्शास्त्र)

कला-मनीषी तथा रचनाकार सदा यह मानकर चले हैं कि कला वही श्रेष्ठ

है जो मनुष्य को अपने-आप में ही सीमित न रखकर परम तत्त्व की ओर उन्मुख करे। कला का लक्ष्य कला यहाँ के संस्कृत काल में कभी नहीं रहा है। वह कला यहाँ की दृष्टि में बंधन है, पर जिसका संकेत, स्वरूप के साक्षात्कार या परम तत्त्व की ओर है, वही कला कला है।

जो साक्षात् जीवन है, उसकी यथार्थ स्थितियाँ और दुःख-सुख हैं, उनके बीच से प्राचीन भारत की कला और काव्य की रचना नहीं होती थी। वस्तुतः यह यथार्थ जीवन स्तर और क्षेत्र, कला-रूपी रक्त कमल की जड़ के लिये था—जहाँ से उस सनातन कमल को प्राण-शक्ति मिलती थी, पर उस कला और काव्य का रचना-स्तर उससे सर्वथा भिन्न होता था। जो जीवन में भोग्य है, वह जीवन का ही क्षेत्र है, और जहाँ वह समाप्त होता है, उस सीमा से आगे, उस यथार्थ जीवन के धरातल से बहुत ऊपर उठकर कला और काव्य का सृजन-क्षेत्र प्रारम्भ होता है। तभी भारतीय नाटक और साहित्य का स्वर इतना मांगलिक, आदर्शपूर्ण और मिलनमय है, वरना इसका भी स्वर, जीवन की यथार्थ गति और प्रकृति की भाँति करुणापरक, दुःखमय, विछोहपूर्ण और निराशाजनक होता। जैसा कि पश्चिम के नाटक और साहित्य में हुआ है।

नाटक और रंगमंच ही क्या, प्राचीन भारत के प्रायः समस्त कलात्मक आमोदों की पृष्ठभूमि में सदैव ये तीन पक्ष कार्यरत रहे हैं :

- उनके पीछे एक निश्चित तत्त्ववाद
- उनका कल्पनात्मक विस्तार, और
- उनकी ऐतिहासिक परम्परा।

तभी यहाँ के कला-मनीषियों और काव्याचार्यों ने कहीं कला को 'महामाया का चिन्मय विलास' कहा है, और कभी इसे 'महामाया की सम्मूर्तन शक्ति' कहा है।

प्राचीन नाटक, रंगमंच, साहित्य और शिल्प, भारत की आनन्द-विधायिनी जीवन-पद्धति का जैसे चेतन प्रतीक है। भारतीय रंगमंच को महाकवि कालिदास ने, 'चाक्षुष्य यज्ञ' कहा है। 'मालविकाग्निमित्र' में नाटककार ने लिखा है कि नाट्य को जो हम अपने जीवन में इतना महत्त्व और गौरव देते हैं उसमें सत्य है, उसके पीछे जीवन की साधना है। आस्था और अपना आनन्दमय जीवन-दर्शन है।

## संस्कृत नाटक में संघर्ष की स्थिति

पश्चिम का रंग-समीक्षक और अपने यहाँ आज का रंग-पाठक प्राचीन

नाटक को पश्चिम के 'संवर्ष' तत्त्व के परिप्रेक्ष्य में समझना चाहता है। स्वभावतः तब वह नाटक के स्तर पर सोचता है कि बिना संघर्ष के कैसा नाटक ? जब संघर्ष नहीं तो नाटक की स्थिति क्या ?

रचना की दृष्टि से संघर्ष तत्त्व इन नाटकों में भी है। किन्तु इस प्रसंग में इसकी कुछ स्पष्ट मान्यतायें हैं। यहाँ भी संघर्ष है, पर यह संघर्ष पश्चिम के नाटकों की भाँति मूलाधार नहीं है। संघर्ष यहाँ महज साधन के रूप में प्रयुक्त है, यहाँ यह साध्य अथवा मूल नहीं है। स्पष्ट शब्दों में संघर्ष यहाँ मूलाधार (रस) को उद्दीप्त करने आता है। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' जैसे सरस मृदु नाटक में शकुन्तला के चरित्र स्तर पर निश्चय ही एक उत्कट संघर्ष है।

संघर्ष के मूल तत्त्व—घृणा, प्रतिशोध और भय आदि यहाँ के नाटकों में भी प्रयुक्त हुए हैं, पर इनके प्रयोग का अपना विशेष भारतीय ढंग है। अर्थात् ये भाव नाटक में सदा 'संचारी भाव' के रूप में आये हैं और अंत में ये संचारी भाव नाटक के मूल-रस में अपना योग देकर उसी में समाहित हो गये हैं।

कथावस्तु के आधार पर नाटक जीवन-गत स्थितियों में बँटा रहता है। 'अवस्थाओं' के अन्तर्गत 'आरम्भ', 'प्रयत्न', 'प्रप्त्याशा' और 'संधियों' के अन्तर्गत, 'मुख', 'प्रतिमुख' और 'गर्भ', ये सब स्थितियाँ अपने स्तर से संघर्ष और नाट्यगति को ही व्यक्त करती हैं। संसार में हम देखते हैं कि मनुष्य मात्र का जीवन एक सीधी सरल रेखा की तरह निष्क्रिय ढंग से अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँचता। जीवन की गति सदैव वक्र है। वह टेढ़ा-मेढ़ा चलकर ही अपने चरम लक्ष्य तक पहुँचता है। यह गति ही संघर्ष है, यह पश्चिमी दृष्टिकोण, जो आदि से अंत तक नाटकों में हत्या, प्रतिशोध और संघर्ष अनुभूत करता है, वस्तुतः उसके पीछे पश्चिम का जीवन-दर्शन जिम्मेदार है। पश्चिम में संघर्ष का मतलब विनाश, कारुणिक अंत, क्योंकि वहाँ भाग्य और दैवी शक्तियाँ मनुष्य को उसकी यथार्थ स्थिति और यथार्थ चरित्रबोध के धरातल पर चलकर देखती हैं। किन्तु यहाँ संघर्ष के अर्थ हैं, संघर्ष पर विजय प्राप्त करना, आशा और उल्लास से सदैव अग्रसर होना। संघर्ष-गति में यदि उसे निराशा मिली, अथवा दुख प्राप्त हुआ, तो वह केवल क्षणिक है। यहाँ संघर्षरूपी दुख और निराशा के काले बादलों के पीछे निश्चय ही सुख, आशा, उल्लास और दिव्य आनन्द का प्रकाश छिपा रहता है। इसके पीछे भारतीय जीवन-दर्शन बोल रहा है कि मनुष्य को यहाँ जीवन के संघर्षों, विघ्न-बाधाओं पर अन्ततः विजय प्राप्त होगी। भारतीय नाटक तभी अपने लक्ष्य में 'फलागम' की दृष्टि लेकर चलता है।

यहाँ के जीवन-दर्शन को कर्म में विश्वास है, भाग्य में नहीं। यहाँ तक कि बौद्ध-दर्शन, जो दुख को चरम सत्य मानकर चलता है, वह भी दूसरे ही चरण में विश्वास करता है कि इस दुख का निवारण हो सकता है। वह कहता है

कि दुख का निरोध होता है, तभी मनुष्य इस जीवन में मोक्ष पाता है। इसके पीछे विशिष्ट रूप से भारतीय आशावादी दृष्टिकोण है, जो मनुष्य के शुभ, मंगल में ही केवल विश्वास नहीं करता, वरन् जो इसमें भी अपनी आस्था रखकर चलता है कि मनुष्य में शुभ और मांगलिक विकास भी होता है। यह अद्‌भुत आशावाद की दृष्टि, पश्चिम से सर्वथा, भिन्न, सर्वथा दूसरे ही जीवन-मूल्य की द्योतक है।

जीवनगत इस दृष्टिकोण का व्यवहार भारतीय नाटक में किस प्रकार हुआ है?

इस व्यवहार का मूलकेन्द्र है भारतीय नायक—जिसके चरित्र का मूलाधार है 'धीर' तत्व। उसका सारा चरित्र इतना संयमी, आदर्शवादी और उदात्त है कि उसमें पश्चिम-जैसे 'संघर्ष' की संभावना ही नहीं है। यह भारतीय नायक न भाग्य का पुतला है, न रहस्यमयी निर्बलताओं का उदाहरण। यहाँ नाटक का नायक संघर्षों तथा विघ्नों को कुचलता, पददलित करता निरंतर आगे बढ़ता है और अपने लक्ष्य को अन्ततः प्राप्त करता है। फलतः यहाँ के नाटकों का अन्त फलप्राप्ति में ही होता है, पश्चिम की भाँति निराशा और असफलता में नहीं। इसका मूल कारण है कि यहाँ नाटक का धरातल निश्चय ही यथार्थ से ऊँचे उठकर कहीं आदर्श स्तर पर है। ठीक इसके विपरीत पश्चिम के 'ड्रामा' का धरातल यथार्थ स्तर पर है। स्वभावतः ड्रामा के चरित्रों की स्थितियाँ हमारे यहाँ के चरित्र की स्थिति से भिन्न हैं। ग्रीक और शेक्सपियरियन दुखान्तकी के नायक स्वभावतः अपने जीवन की विरोधी शक्तियों पर विजय नहीं प्राप्त कर पाते हैं और अन्ततः उनका जीवन कारुणिक पतन को प्राप्त होता है। उसके लिये पश्चिम का नाटककार जीवन की अनुकरणात्मक वृत्ति से प्रेरित होकर अथवा अपने यथार्थवाद के आग्रह से नायकों के चरित्र में कुछ ऐसी मूल कमी चित्रित करते थे कि स्वभावतः वे पतन तथा असफलता के शिकार हो जाते हैं।

सत्य यह है कि भारतीय नाटक में चरित्र-निर्माण 'ड्रामा' के चरित्र-निर्माण के स्तर पर कभी होता ही नहीं। यद्यपि यह सच है कि पश्चिम के जीवन-दर्शन और कला-सिद्धान्त के फलस्वरूप उनके वहाँ का चरित्र प्रभाव की दृष्टि से बहुत ही शक्तिशाली सिद्ध हुआ है, ठीक जैसे भारतीय साहित्य में वेदव्यास प्रणीत महाभारत के चरित्र। पर भारतीय नाटक का चरित्र-सृजन सबसे अनूठे स्तर पर हुआ है, विशुद्ध रस-सृष्टि के स्तर पर। और स्वभावतः इसका सारा क्षेत्र आनन्द का है। यही कारण है कि भारतीय नाटक अपने-आप में प्रकाश, हरियाली, उद्यान, आकाश, नदी, पर्वत, पुष्प-वाटिका, राजपथ, सौन्दर्य और उल्लास के परिवेश से भरे पड़े हैं। बादल यहाँ भी हैं (अर्थात् संघर्ष यहाँ

भी है) पर ये यहाँ प्रकाश को और दीप्त करते हैं। उसे बुझाते नहीं। यहाँ के नाटक में ऊँची-नीची जमीनें हैं, जिससे दुश्यन्त के रथ का वेग कम हो गया था, जिसके कारण उसे निराश होना पड़ा कि आखेट का वह मृग सामने से ओझल हो गया। बेतरह धूल उड़ती है। किन्तु दूसरे ही क्षण दुश्यन्त का रथ उससे आगे निकल जाता है। यहाँ तक कि रथ के घोड़ों पर धूल तक नहीं लगती। जमीन समतल हो जाती है। मृग भी सामने है। राजा उस पर बाण छोड़ने को होता है। एकाएक बाधा फिर आती है। नेपथ्य से कोई पुकारता है, "हे राजन्, यह आश्रम का मृग है। इसे मत मारो···मत मारो"। राजा धनुष पर से बाण उतार लेता है। अजब स्थिति ! यह तपस्वी कौन है ? इस गति में कोई भी प्राप्ति नहीं है क्या ? चारों ओर से रोक-थाम ही है क्या ? तभी तपस्वी हाथ उठाकर कहता है—"तुम अपने ही गुणों से युक्त एक चक्रवर्ती पुत्र पाओ···!"

•



अभिनय—नृत्



नृत्य



विदूषक

# संस्कृत-रंगमंच

## प्रस्तुतिकरण पक्ष

# संस्कृत नाट्य-प्रदर्शन (प्रस्तुतिकरण) की परम्परा और पद्धत्तियाँ

संस्कृत नाटक के आधार में जहाँ एक निश्चित जीवन-दर्शन है, जहाँ उसमें काव्यात्मक विशेषतायें हैं, वहीं उसमें नाट्य-शिल्प और नाट्य-प्रदर्शन की कुछ निश्चित पद्धतियाँ और परम्परायें भी हैं। दूसरी ओर भारतीय संस्कृति के इतिहास में संस्कृत नाटकों के प्रस्तुतिकरण के पीछे सदैव एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य था। जहाँ कलावंत आचार्यों तथा रसज्ञ सामाजिकों के अनुसार रसानुभूति नाटक का मुख्य उद्देश्य है, वहाँ उन्होंने यह भी कहा कि कला का धर्म मनुष्य को शिक्षा प्रदान करना है, जिससे वह अपने समक्ष देखे गये प्रस्तुत नाटकों के नायकों के चरित्र का अनुकरण करे—तभी संस्कृत रंगमंच में सर्वथा आदर्श नायकों की रचना होती थी। लेकिन समाज का क्षेत्र और स्तर अत्यन्त विस्तृत और गहन है। इसके प्रतिनिधित्व के लिये तथा इसे प्रकाश देने के लिये संस्कृत रंगमंच में मनोरंजन, सौन्दर्यबोध तथा सोद्देश्यता के धरातल के नाटक के अतिरिक्त (हृदय के) अन्यान्य विभेद हैं।

'प्रकरण' में सच्चे प्रेम की विजय, चरित्र तथा पवित्रता का चित्रण किया जाता था। यह प्राय: कवि-कल्पित प्रेम-कथाओं के आधार पर भी निर्मित होता था।

धूर्तों और दुष्टों का हास्योत्तेजक उपस्थापन-मूलक रचना को 'भाण' कहते हैं। रंग-रचना की दृष्टि से उसके लक्षण निम्नलिखित हैं :

- ○ भाण में ऐसी स्थितियाँ होती हैं, जिनमें अपने अथवा दूसरे के साहसिक कार्यों का पता चलता हो।
- ○ इसमें केवल एक अंक होता है और दो संधियाँ।
- ○ भाण का नायक विट होता है।
- ○ इसमें संकेत होते हैं—अथवा किये जाते हैं।
- ○ भाण, आकाश-भाषित प्रश्नोत्तरों से आगे बढ़ता है।
- ○ इसमें हास्य का तो प्रयोग होता है, पर इसमें शृंगार-द्योतक कौशिकी वृत्ति नहीं आती।

संस्कृत प्रहसनों और भाणों में चोट करने, हँसी उड़ाने तथा तत्कालीन समाज की कामुक और ढोंगी वृत्तियों के प्रदर्शन का अच्छा सुयोग मिलता है।

पर 'चतुर्भाणी'[1] के अतिरिक्त जो भी प्रहसन और भाण बच गये हैं, उनमें रूढ़िगत वर्णन, कामुकता, गाली-गलौज और अश्लीलता के ऊपर कोई नई बात कम मिलती है।

'भाण' के आगे 'व्यायोग' आता है—स्त्रीहीन, वीररस प्रधान एकांकी-जैसा। फिर 'समवकार'—तीन अंकों का। भयानक दृश्यों को दिखानेवाला; भूत-प्रेत, पिशाचों का उपस्थापक 'डिम'; स्वर्गीय प्रेमिका के लिये जूझ पड़नेवाले, प्रेमियों में प्रतिद्वंद्विता फैलानेवाला 'ईहामृग'; स्त्री-शोक की करुण-कथा दिखानेवाला एकांकी 'अंक'। एक ही पात्र द्वारा अभिनीयमान विनोद और शृंगार-प्रधान 'वीथी'—हँसानेवाला 'प्रहसन' आदि। इनके अतिरिक्त उपरूपक होते हैं—जिनमें 'नाटिका' का महत्व सबसे अधिक है। और इसका कार्यक्षेत्र साधारणतः राजकीय अन्तःपुर तक ही सीमित था। 'प्रकरणिका', 'सट्टक' और 'त्रोटक' इसी श्रेणी के हैं। 'गोष्ठी' में दस पुरुष और पाँच-छः स्त्रियाँ अभिनय करती थीं। 'हल्लीश' में एक पुरुष कई स्त्रियों के साथ अभिनय करता था। इस तरह अठारह प्रकार के उपरूपकों का अभिनय और प्रस्तुतिकरण संस्कृत मंच पर होता था।

इस प्रकार संस्कृत रंगमंच अपने प्रस्तुतिकरण क्षेत्र में कितना व्यापक और गहन है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण है, इतने प्रकार के नाट्य-रूपकों की व्यावहारिक स्थिति !

## प्रस्तुतिकरण की मूल दृष्टि

संस्कृत रंगमंच में प्रस्तुतिकरण की मूल दृष्टि रस-निष्पत्ति का सत्य था। इसी प्रक्रिया से नाटककार नाटक की रचना करता था, स्वभावतः इसके प्रस्तुतिकरण में वही रचना-तत्व आवश्यक थे। 'रस' के परिप्रेक्ष्य में संस्कृत का नाटककार नाटक लिखते समय घटना और कार्य-व्यापार में उसके भावात्मक पक्ष को अधिक ध्यान में रखता था, उसके बौद्धिक पक्ष को कम। इसके पीछे भावात्मक सहानुभूति का सिद्धान्त कार्यरत था। उदाहरण के लिये प्रेमी का भावात्मक-काव्यात्मक स्वरूप रचा जाता था, वास्तविक प्रेम-रचना दृश्यरूप में नहीं रखी जाती थी—ताकि दर्शक उस भाव की केवल आत्मानुभूति करे।

१. चतुर्भाणि (गुप्तकालीन शृंगार हाट) सम्पादक अनुवादक श्री मोतीचन्द, श्री वासुदेव शरण अग्रवाल—भूमिका, पृष्ठ २
प्रकाशक—हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।

इस 'कार्य' सत्य की भाँति ही स्थान-सत्य की भी बात थी। उदाहरण के लिये यदि पात्र पर्वत पर है, किसी पहाड़ी प्रदेश पर उसके रंग-व्यापार हो रहे हैं, अथवा बाग-उपवन में वह स्थित है, तो मंच पर यह आवश्यक नहीं कि उस देश-सत्य का पूर्ण दृश्य-चित्र प्रस्तुत हो—जैसा कि आज यथार्थवादी रंगमंच पर रखा जाता है, वरन पात्र, और उसकी पात्रता निबाहने वाला अभिनेता उस दृश्य-सत्य का कथन करे तथा उसी के अनुरूप वह अपनी क्रिया-प्रक्रिया दे, जिससे कि उसके साथ नाटक देखनेवाला दर्शक उसी क्रिया-प्रतिक्रिया में अपने भाव-जगत में जागरूक रहे और दर्शक अपने मानसिक-जगत में अभिनेता के सहारे अपनी कल्पना-शक्ति से अपने-आपको पर्वत, उपत्यका, उद्यान और बाग-उपवन में अनुभूत करे। इस प्रकार संस्कृत नाटकों के प्रस्तुतिकरण में बिना किसी यथार्थवादी दृश्यबंध के अभिनेता के सहज वर्णनों, कथनों और तत्स्वरूप मुद्राओं, प्रतिक्रियाओं के सहारे दर्शक नाट्य-सत्य को हृदयंगमकर अपने भावनालोक में उसकी अनुभूति करता रहे।

इस प्रकार 'शाकुन्तलम्' का अभिनेता जो दुश्यन्त की भूमिका कर रहा है, अपनी मुद्राओं, गतियों तथा व्यवहारों से दर्शकों में इस सत्य की अनुभूति करायेगा कि दुश्यन्त मालिनी नदी के तट पर आ गया है और उसकी शीतल वायु से वह आनन्दित हो रहा है। 'मृच्छकटिकम्' में इसी भाँति जब शार्विलक चारुदत्त के घर में चोरी के लिये सेंध मारता है, तो वह महज इस सत्य का अभिनय करता है—वाणी से कहकर और उस कार्य का केवल अभिनय प्रस्तुत कर। वह वास्तविक कार्य नहीं करता। ऐसा क्यों? इसी लिये कि जब मंच पर दर्शक वास्तविक कार्य होते, घटना घटते देखेगा, तो यह उसकी सह-कल्पना कैसे करेगा?

शार्विलक चारुदत्त के कक्ष में जब चोरी के लिये प्रवेश करता है तो मंच पर वस्तुयें आधुनिक मंच की भाँति वस्तुतः रखी नहीं रहतीं, अभिनेता केवल दर्शकों में कल्पना जगाने के लिये उसी उदात्तता से कहता है : 'ओह, यहाँ वीणा रखी है, यहाँ बाँसुरी है, यहाँ मृदंग है। मेरा कितना बड़ा दुर्भाग्य है कि मैं एक नर्तक के घर में घुस आया।' अतएव संस्कृत रंगमंच में नाटक की सारी स्थिति मंच पर निष्प्राण ढंग से नहीं रची जाती, वरन वह सारी नाट्य-स्थिति अभिनेता के हृदय में संजोयी रहती है। तभी संस्कृत नाटक में इतने कवित्व-पूर्ण कथन और कथनोपकथन की स्थिति रहती है। यदि वह आधुनिक रंगमंच की भाँति वस्तुसत्य स्तर पर होती तो उस तरह के काव्यात्मक कथनों की कोई आवश्यकता ही न थी। मूल उद्देश्य क्योंकि दर्शक में उस नाट्य-स्थिति का उदय देना होता था—उसका महज परिचय और ज्ञान नहीं।

इससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत रंगमंच पर प्रस्तुतिकरण की दृष्टि से दृश्य-बंध की आवश्यकता नहीं थी। सारी अनुष्ठ ...ी प्रतीकात्मक और आदर्श-

मूलक थी। संगीत का योग नाट्य-अनुष्ठान में आदि से अंत तक होता था। इसमें भी वाद्य-संगीत की प्रधानता थी।

विशेषकर नाटक के आरम्भ में वाद्य-संगीत की बहुत बड़ी प्रथा थी—जिसे पूर्वरंग अथवा नाटक आरम्भ होने के पहले की क्रिया कहते थे। 'पहले नगाड़ा बजाकर नाटक आरम्भ होने की सूचना दी जाती थी, फिर गायक और वादक लोग रंगभूमि में आकर यथास्थान बैठ जाते थे। 'कोरस' आरम्भ होता था। मृदंग, वेणु, वीणा आदि वाद्य नर्तकों के नूपुर-झंकार के साथ बज उठते थे, और इन कार्यों के बाद नाटक का उत्थापन होता था।'[1]

अभिनय पक्ष में अभिनय और नृत्य दोनों को अलग-अलग देखना कठिन है। इस अभिनय और नृत्य के संदर्भ में प्रस्तुतिकरण के स्तर से 'नृत्य', 'नृत्त' और 'अभिनय' के कलात्मक प्रयोगार्थ को जान लेना आवश्यक है। 'नृत्य' और 'नृत्त' दोनों में विभिन्नता है। 'नृत्य' में भावों का अनुकरण प्रधान रहता है। इसमें आंगिक अभिनय पर बल दिया जाता है और साथ ही इसमें पदार्थ का अभिनय रहता है।

और 'नृत्त' में केवल अंग-विक्षेप होता है। यह अंग-विक्षेप ताल और लय पर आश्रित होता है। 'अभिनय' 'अभिनयति हृद्गतभावान् प्रकाशयति' मन के भाव को प्रकट करने वाली आंगिक चेष्टाओं द्वारा किसी विषय अथवा व्यक्ति का अनुकरण करके प्रदर्शित करने को कहते हैं। किन्तु इसमें बाह्य कार्य-व्यापार प्रदर्शित करना उतना अभिप्रेत नहीं होता जितना कि मन के भाव को व्यक्त करना इसका प्रधान धर्म है। इसी लिये संस्कृत प्रदर्शन में 'आंगिक', 'वाचिक', 'आहार्य' और 'सात्विक' अभिनय के इतने अधिक प्रकार और पक्ष हैं। इस प्रकार संस्कृत रंगमंच का 'अभिनय', 'नृत्य' तथा 'नृत्त' को अपने में समाहित किये हुये है। क्योंकि जहाँ 'नृत्य' में भावों की अभिव्यक्ति है और जहाँ 'नृत्त' में केवल अंग-विक्षेपण होता है, वहाँ अभिनय 'अवस्था' की अभिव्यक्ति के स्तर से रसाश्रित होने के कारण यह सबसे अधिक सार्वभौमिक और सर्व-ग्राही होता है। संस्कृत रंगमंच में अभिनय की इतनी उदात्त मर्यादा इसी लिये है कि इसी के माध्यम से (वाणी, वस्त्र और भावाभिनय) अभिनेता एक ओर मूल कथा के व्यक्तियों का आरोपण निभाता है, और दूसरी ओर अभिनय द्वारा विविध प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति देता हुआ, दर्शकों में उन भावों को जगाता हुआ, सारे नाट्य अनुष्ठान को 'रसनिष्पत्ति' मय करता है।

अभिनय की इस गरिमा के पीछे एक कारण यह भी था कि संस्कृत मंच

---

१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद : श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १०२, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई!

पर यथार्थवादी ढंग की न तो साज-सज्जा थी, न कोई विशेष मंच-सामग्री। यथार्थ का तत्त्व केवल वस्त्र-विन्यास और वचन (वाणी) तक ही सीमित था, शेष नाट्य-तत्त्व जैसे 'काल' और 'परिस्थिति' के यथार्थवाद से परे थे। इन सबका एकांत प्रभाव संस्कृत प्रस्तुतिकरण पर यह था कि रंग-अनुष्ठान का सारा बल 'अभिनय' पर था, मंच के बाह्य तत्त्व पर नहीं। सारा अनुष्ठान कल्पना जगाने-वाला होता था, महज यथार्थ दृश्य दिखाकर वहीं का वहीं शान्त कर देने वाला नहीं। इस तरह संस्कृत प्रस्तुतिकरण में सामाजिक अथवा दर्शक उसका एक अभिन्न तत्त्व और अंग था। दर्शक यहाँ मूक अभिनेता थे, जो अपने हृदय-जगत में मंच के अभिनेता से कहीं अधिक भाव और रस के उपभोक्ता थे।

नाट्य-प्रदर्शन के प्रसंग में यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है, कि संस्कृत नाटक में कथन लम्बे, काव्यात्मक, दृश्यात्मक, वर्णनात्मक हैं—और दूसरी ओर उसमें 'कार्य', 'गति' और 'मुद्रायें' भी सन्निहित हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' तथा 'मृच्छकटिकम्' इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में आदि से अंत तक इनके कथन—पाठ्य में वही नाट्य-गर्भित स्थितियाँ विद्यमान हैं। 'शाकुन्तलम्' तो इस दिशा में अद्वितीय है।

उदाहरण के लिये 'शाकुन्तलम्' का पहला दृश्य जहाँ कार्य, गति और दृश्यात्मक वर्णन, तीनों तत्त्व परस्पर सम्मिलित हैं। यहाँ के कथनोपकथन ऐसे हैं, जैसे पाठ के अतिरिक्त ये रंग निर्देशन भी हैं। इनके शिल्प से लगता है, जैसे ये किसी नृत्य-प्रदर्शन के खचित भाव-चित्र हैं। रथ पर सवार हाथ में धनुष लिये राजा दुष्यन्त और सारथि से बातें (कथनोपकथन) हो रही हैं। और उन्हीं में से काव्य के अतिरिक्त दृश्यात्मक वर्णन, गति, कार्य और मुद्रायें खिचती जा रही हैं। जमीन ऊँची-नीची है, इसलिये सारथि ने घोड़ों की बागडोर खींच रखी है। अतएव रथ का वेग कम हो गया है। इसी लिये मृग दूर निकल गया है। रास ढीली करता है सारथि। रथ तेज़ हो जाता है। घोड़े इतने वेग से दौड़ रहे हैं कि अपने ही पैरों से उड़ती हुई धूल से भी वे आगे रहते हैं। चमर के समान लगी हुई उनके मस्तक की कलंगी तनिक भी नहीं हिलती-डुलती और घोड़ों ने कान खड़े कर लिये हैं। मृग बिलकुल नजदीक आ गया है। राजा बाण चढ़ाता है, उसी समय नेपथ्य से आवाज़ आती है—'हे राजन्, यह आश्रम का मृग है, इसे मत मारो, इसे मत मारो।'

लगता है, यह सब कथोपकथन नहीं, साक्षात् प्रदर्शन का पूरा का पूरा चित्र है। खिची हुई रतनारी आँखों में (अभिनेता के) दौड़ते हुये तथा पास खिचते हुए मृग की छाया उभर आयी है। रास खिची हुई है। रथ हिल रहा है। राजा जैसे ही बाण चलाना चाहता है, कि आश्रम के भीतर से एक शिष्य के साथ तपस्वी आकर बीच में खड़ा हो जाता है। और इस तरह इस छोटी-सी

कथा, कार्य को चरमसीमा प्राप्त हो जाती है। जैसे किसी संगीत के अलाप को सम मिल जाय, जैसे कोई नृत्य, करण और अंगहार से पूर्ण होकर एक बिन्दु पर सम्पूर्ण हो जाय।

यहाँ शब्द और गति-प्रचार दोनों एकान्वित हो गये हैं।

पूरे प्रथम अंक के कथनों में कार्य और गति का मानो चल-चित्र पूर्ण होता है—मंच-दृश्य और अभिनय दोनों आयामों से। प्रदर्शन-पद्धति में कथन, कार्य और गति इन तीनों की परस्पर अन्विति संस्कृत-नाटक की पहली विशेषता है।

'शाकुन्तलम्' के चतुर्थ अंक में प्रदर्शन-पद्धति का एक दूसरा मुख्य तत्त्व उल्लेखनीय है। यहाँ दृश्य है, स्थिति में, पूजा के वे क्षण, जब शकुन्तला दुल्हन के रूप में आश्रम से विदा ले रही है। एक नये कार्य का शुभारम्भ है यहाँ। वह आश्रम-कन्या से अब पत्नीत्व की ओर जा रही है। वह जड़-चेतन, पशु-पक्षी और मानव सब को विदा दे रही है। मंच पर परिकल्पित सामग्री, रंग-वस्तु को अभिनय द्वारा शकुन्तला सम्प्रेषित कर रही है।

संस्कृत मंच पर निश्चय ही धरातल होते थे। इन धरातलों के अतिरिक्त मत्तवारिणी के सामने अलग-अलग दृश्यों की भी योजना होती थी। इस मंचीय विशेषता से आगे प्रदर्शन का अन्य तत्व आता है—कार्य और दृश्य का क्रमिक रूप, और दूसरे दृश्यों और अनुक्रम की ऐसी स्वतन्त्र व्यवस्था जो एक-दूसरे से अलग और पूर्ण हों तथा अन्ततोगत्त्वा उसी एक कार्य अथवा अंक के अंगी हों।

'मृच्छकटिकम्' में इस पद्धति का एक सुन्दरतम उदाहरण है। पहले अंक में हम देखते हैं कि चारुदत्त अपने घर में विदूषक के संग बातें कर रहा है। सहसा कार्य का क्षेत्र, अथवा दृश्य बदलता है सड़क पर जहाँ संस्थानक बसंत-सेना का पीछा कर रहा है। यह कार्य-दृश्य पूरे विस्तार में चलता है। और जब यह अनुक्रम समाप्त होता है, तब कार्य या दृश्य फिर वहीं पीछे लौटता है, यहाँ चारुदत्त अपने विदूषक के संग बातें कर रहा है। यह बात वहीं से फिर शुरू होती है, जहाँ से थम गयी थी। 'मृच्छकटिकम्' में यह रंग-पद्धति पूरे नाटक में बार-बार व्यवहृत हुई है। इस पद्धति की चरम सीमा है, 'न्याय' और 'वध' दृश्य में, अर्थात् पूरे नौवें और दसवें अंकों में—समान रूप से। मंच पर अनेक धरातलोंवाली प्रदर्शन-पद्धति इसी रंग-प्रकृति का एकमात्र फल है।

अनेक, विविध धरातली मंच की एक अन्य बात भी यहाँ उल्लेखनीय है। यह धरातली मंच काल की अपेक्षा 'स्थान' से अधिक सम्बद्ध है। जैसे 'मृच्छ-कटिकम्' के चौथे अंक में, जहाँ एक ओर (धरातल पर) वसंतसेना खिड़की से



मुकुट के साथ



संस्कृत रंगमंच प्रस्तुतिकरण पक्ष, पूर्व रंग; सूत्रधार इन्द्रध्वज हाथ में लिये खड़ा है। नीचे नट-नटी पूजा करते हुए। पीछे मंगल-घट के साथ दूसरा नट।



भास के मध्यम व्यायोग
के दो पात्र



लोकधर्मी परम्परा के पात्र सुग्रीव की वेश-भूषा। मुखौटे के साथ अतिरंजित रूप-सज्जा का सत्य प्रकट है।

देखती हुई शार्वलिक और मदनिका की गुप्त बात सुनती रहती है। समय स्वभावत: बीतता जा रहा है, और वह स्वगत कथन—बल्कि 'जनान्तिक' में उनकी बातों पर अपनी टिप्पणी भी दे देती है—इस तरह इस दृश्य में कोई विराम नहीं आता, कोई अस्वाभाविक ठहराव नहीं आता—जैसे कि इसके पहले अंक में आया है। जबकि समय बीच में बीत गया है, पर चारुदत्त और विदूषक की वार्ता में 'काल' का कोई व्यवधान नहीं दिखता।

मंच का, अभिनय-क्षेत्र (रंगपीठ) का अलग-अलग स्वतन्त्र भागों में बाँटकर नाटक को प्रदर्शित करना भी इस प्रसंग में एक और तत्त्व है। जैसे 'मृच्छकटिकम्' के 'न्याय' दृश्य में मंच का एक भाग न्यायालय है, और दूसरा भाग चारुदत्त का घर। ठीक इसी तरह वसंतसेना को चारुदत्त की फाँसी की सूचना मिलते ही वह कुछ ही क्षणों में श्मशान-भूमि पर (दृश्य में) पहुँच जाती है। और (पहले अंक की परिकल्पित) खिड़की से इस दसवें अंक में—जबकि चारुदत्त भीड़ के साथ श्मशान-भूमि में ले जाया जा रहा है, स्थावरक उसी बीच कूद पड़ता है।

## अदृश्य और नेपथ्य

संस्कृत नाट्य-प्रदर्शन में और इसकी रचना-पद्धति में दर्शक जितना प्रत्यक्ष देखता और सुनता है, उससे कहीं अधिक उसे अदृश्य में देखना और नेपथ्य से सुनना होता है। इसी संदर्भ में 'कान में कहना', 'अस्फुट स्वर में कथन' यह भी महत्वपूर्ण है, जिसे दर्शक-वर्ग सुन नहीं पाता, पर समझता खूब है। क्योंकि दर्शक नाटक के विषय में, चरित्र के बारे में सारी अपेक्षित सूचनायें और अर्थ-प्रसंग प्राप्त कर चुका होता है।

मंच हर अदृश्य तत्व में अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है। संभवतः इसी लिये संस्कृत-नाट्य में बहुत कुछ नेपथ्य में घटता है और पूर्ण होता है। पर्दे के पीछे कितना होता है, यह जीवन-दर्शन की भी बात है, पर प्रदर्शन-संदर्भ में 'रंग' को यही नेपथ्य तत्त्व असीम क्षेत्र और बोध देता है। मन कल्पना करने लगता है और असीम में उसकी अवधारणा प्रकट होने लगती है।

इसी असीम और विस्तार के हेतु, इसी अबाधता के लिये चरित्र, प्रवेश के पूर्व ही दर्शक को सुनायी देने लगता है। अर्थात् संस्कृत नाटक का चरित्र भौतिक रूप से प्रकट होने के पूर्व मानसिक रूप से दिखाई पड़ता है। उसकी आत्मा—उसका प्राण उसके शरीर से आगे बढ़ जाता है।

## मूर्छा

संस्कृत नाटक में, विशेषकर इसके प्रदर्शन-तत्वों में जहाँ भाव सम्प्रेषणीयता के स्तर पर कठोर संयम की अपेक्षा पड़ती है वहाँ गहन भावुकता के क्षणों में परम निर्बलता भी प्रकट होती है। संयम और भावुकता इन दोनों का अजब कलात्मक संयम है यहाँ। 'मूर्छा' इसी का एक उदाहरण है। प्रदर्शन के तत्वों में जहाँ नृत्य, मुद्रा, करण और अभिनटन प्रमुख है, वहाँ भावुकता के क्षण का अभिनय विशेष गहन है।

मूर्छा जीवन की अपेक्षा संस्कृत-नाट्य में अधिक पाई जाती है। मूर्छा प्रायः सभी श्रेष्ठ नाटकों में विद्यमान है। 'भास', 'शूद्रक', 'कालिदास' और 'भवभूति' में विशेषकर। 'मृच्छकटिकम्' में चारुदत्त के आभूषणों की चोरी हो जाती है, इसकी सूचना से वह मूर्छित होता है। यही सूचना जब वसंतसेना को मिलती है, तो वह भी मूर्छित हो उठती है—साथ ही उसकी दासी मदनिका भी।

'उत्तररामचरितम्' में मूर्छा-दृश्य, उपक्रमों की चरम सीमा के रूप में बहुत ही कलात्मक ढंग से व्यवहृत हुआ है। इस तरह से सोलह स्थल हैं मूर्छा के 'उत्तर-रामचरितम्' में—सीता सात बार, राम चार बार, उनके सेवक दो बार, कौशल्या एक बार, सीता की माँ पृथ्वी एक बार और एक बार पूरी सेना की मूर्छा।

वस्तुतः मूर्छा आँखों के ही लिये नहीं, वरन् यह मन-प्राण के लिये भी एक दृश्य है। मूर्छा की स्थिति स्वभावतः वहीं आती है, जहाँ शब्द और कार्य अपनी सीमा में अधूरे रह जाते हैं, और उनकी जगह को जहाँ अभिनटन और नृत्य-रचना के ये तत्त्व पूरे करते हैं।

संस्कृत रंगमंच जहाँ एक ओर गहन काव्य-तत्त्वों से परिपूर्ण था, वहाँ यह नृत्य-रचना के कला-तत्त्वों से रचित था। श्रवण और नयन इन दोनों शक्तियों, और वृत्तियों को आनन्द देनेवाला।

नाट्य-प्रदर्शन का आदि और अंत पूजा के क्षण हैं—प्रार्थना के स्वर से पूरित सम्पूर्ण 'नाट्य' को एक आध्यात्मिक स्तर—रूप देनेवाला। मंच के अभिनेता, निर्देशक, सूत्रधार, रंग-शिल्पी, दर्शक-वादक, गायक, नर्तक और दृश्य-अदृश्य सभी शक्तियाँ अंत में एकाकार हो प्रार्थना करती हैं—सबके शुभ के लिये, सब की शान्ति, कल्याण और आनन्द के लिये।

## नाटक तथा अभिनय

संस्कृत 'नाट्य' शब्द में नृत्य और नाटक दोनों ही भाव समाविष्ट हैं।

और नाटक की प्रस्तुतिकरण कला में संगीत, नृत्य, कार्य-व्यापार और कविता इन सबका समन्वित अवतरण नाटक की उपस्थापन-कला है।

प्राचीन अभिनय का मूलाधार रूप 'नट' शब्द में व्यंजित है। 'नट' शब्द का अर्थ उस काल में व्यायाम है और वैदिक साहित्य में हमें इससे अन्त्येष्टि-क्रिया के नृत्य तथा नाटक से सम्बद्ध होने के प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं। डॉक्टर राघवन का इस सम्बन्ध में यह विचार है कि 'दाह-क्रिया विधियों की समाप्ति पर हमारे पूर्वज नृत्य अथवा शारीरिक व्यायाम तथा नृत्य और हास द्वारा मनोरंजन करते थे। इसकी साक्ष्य में उन्होंने बाली देश के नाटकों के अभिनय काल को प्रस्तुत किया है।' बाली में नाटकों का अभिनय उस ऋतु में किया जाता है, जब पूर्वजों की आत्माओं का उनके पूर्व गृहों में आने का अनुमान होता है। ऐसे अवसरों पर शारीरिक व्यायाम, कुश्ती तथा असि-चालन आदि के प्रदर्शन हुआ करते थे।

इसी संदर्भ में अभिनय के स्तर पर भरत ने अनुकरण के अनेक संस्थानों, गतियों एवं कार्य-प्रणालियों में एक सौ आठ गिनाये हैं, जिनमें से अनेक नट-विषयक प्रकृति के हैं और उनका मंच पर अनुष्ठान अति कठिन है। कुछ वे हैं जिन्हें वृत्तियाँ, न्याय अथवा प्रतिकार कहते हैं, और कुछ शस्त्र-ग्रहण तथा संचालन की विधियों एवं गतियों तथा पूर्वाभिनय के स्थानों का संकेत करते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि 'नट' (इसी प्रकार 'रंग' शब्द भी) क्रीड़ा-क्षेत्र तथा नाटकीय रंगमंच दोनों के लिये है।

प्राचीन नाटक के चार तत्व हैं—जिन्हें 'नाट्यांग' भी कहते हैं :

- पाठ्य
- रीति
- अभिनय
- रस

(मंच) नाटक में इन्हें उपस्थापित करने के लिये चार व्यापार होते है, जिन्हें वृत्तियाँ कहते हैं। ये व्यापार निश्चय ही अभिनय अथवा अभिनेताओं के व्यापार हैं।

- भारती
- सात्वती
- आरभटी
- कौशिकी।

इन चारों वृत्तियों में भारती वृत्ति सर्वप्रमुख है। भारती मुख्यतः अभिव्यंजना की मौखिक प्रणाली का नाम है। नाटक में वे सभी स्थल, जहाँ कथोपकथन प्रमुख होता है और नाटक के वे समस्त निदर्शन जो एक मात्र मौखिक माध्यम

से विकसित होते हैं, इसी भारती वृत्ति के उद्भावक होते हैं। भरत द्वारा वर्णित इस प्रकार के रूपकों में से तीन का सम्बन्ध इस मौखिक समूह से ही है—

स्वगत भाषण जिसे 'भाण' कहते हैं 'प्रहसन' और 'वीथी' जिनमें दो व्यक्तियों का 'शाब्दिक वाग्भिनय' रहता है। इस प्रकार 'भारती' वाणी के व्यापार को—अर्थात् वाणी का अभिनय कहते हैं।

'सात्वती' मानसिक व्यापार के अभिनय को कहते हैं। नाट्य-धर्मी परम्परा के नाटकों तथा उनके उपस्थापन में इस वृत्ति का महत्व अत्यधिक है।

'कौशिकी' नर्तन को कहते हैं—विशुद्ध नृत्य-व्यापार।

प्राचीन नाटक के अभिनय में इस 'कौशिकी वृत्ति' को भरत ने सबसे ऊँचा स्थान दिया है। कथा है, कि जब ब्रह्मा ने इस पंचम वेद (नाट्य-शास्त्र) को अपने सौ भरत-पुत्रों को 'नाट्य' करने के लिये उपदेश दिया, तब वह फिर भी सफल नहीं हुआ। तब ब्रह्मा ने चौबीस अप्सराओं को जन्म दिया, फिर वह नाट्य' कौशिकी वृत्ति की पूर्णता से सफल हुआ।

विशुद्ध उपस्थापन की दृष्टि से संस्कृत नाटक में दृश्यात्मक विधान इतना नहीं हुआ करता था—जितना आज आधुनिक रंगमंच पर है। रंगमंचीय तत्वों का योग निश्चय ही कम से कम था। इसकी पूर्ति संस्कृत-रंगमंच में आंतरिक कार्य-स्रोतों के स्तर से होती थी, जो स्वयं उस रंगमंच को कला की श्रेष्ठता प्रदान करते थे।

नाट्य परिस्थिति को भाषण, कथोपकथन तथा गीतों द्वारा सम्प्रेषित किया जाता था। कथावस्तु के विकास-क्रम के लिये, जिनका आधार छोटे-छोटे रंग-कार्य और मंच-व्यापार होते थे, (इनकी स्थापना नाटकार के संक्षिप्त मंच-निर्देशों के आधार से जिन्हें 'परिक्रमा' कहते हैं) इनकी प्रतिष्ठा उत्कृष्ट अभिनय से होती थी। संस्कृत-रंगमंच में यह निर्देश 'कक्ष्या विभाग' नामक रंग-रूढ़ि से सम्बद्ध है। इसके अनुसार मंच के कुछ भाग पर्वत, नदी, उद्यान, राज-पथ आदि के प्रतिनिधि दृश्य-रूप समझे जाते थे। अभिनेता नाटक विकास-पथ पर इन परिकल्पित कक्ष्याओं में परिक्रमा करके सहज ही यह मनभावन करा देता था कि पात्र अपने उद्देश्य के लिये क्षण-भर में कहाँ से कहाँ चला गया। इसके साथ निश्चय ही संगीत-काव्यमय कथोपकथन का योग रहता था।

इसी प्रकार मंच पर अश्व, हिरन, रथ आदि नहीं लाये जाते थे, किन्तु उसके लिये आंगिक अभिनय तथा चित्राभिनय द्वारा उपयुक्त कलात्मक रंग-क्रियायें की जाती थीं जो आश्चर्यजनक सफल प्रभाव उत्पन्न करती थीं। इस तरह की

रंग-क्रियाओं तथा अभिनय-शैली के पीछे दर्शक के मन में कल्पना-वृत्ति के उदय तथा उसके आधार से रस-भावना का दर्शन छिपा हुआ था। तभी संस्कृत रंगमंच के दर्शक को 'रंगरंजक' और 'रसरंजक' कहा गया है। स्वाभावतः आंगिक अभिनय द्वारा अभिनेता अश्व अथवा रथ पर चढ़कर उनका संचालन कर सकता था। मंच के उद्यान में पुष्प और पौधों को जल से सींच सकता था, नौका-विहार कर सकता था। 'शकुन्तला' आदि संस्कृत की श्रेष्ठ नाट्य-कृतियों में विभिन्न कार्य-व्यापार के लिए तभी, 'नाट्येन अवतारयति' रंग-निर्देश हुआ है। दुष्यंत के रथ, घोड़े और उसका वेग प्रस्तुत करने के लिए विशुद्ध नट-मुद्रा से 'रथवेगं सूचयित्वा' करना है। इसी प्रकार शकुन्तला द्वारा वृक्ष का सींचना वास्तविक सिंचन न होकर 'वृक्ष सीचनं नाटयति' है। इसका रहस्य है 'रसनिष्पत्त' का उद्देश्य। मुद्राओं, नृत्यवत् गतियों, संगीतमय वातावरण, कलात्मक संकेतों से दर्शकों में घनी कल्पना जागती है। उनमें स्वयं ऐसी सर्जनशक्ति और प्रेक्षणीयता उदित होती है कि वे नाटक के साथ परिरूपित होकर सचमुच 'रंगरंजक' हो जाते हैं।

किन्तु अभिनय और उपस्थापन की यह शैली विशेषकर नाट्यधर्मी 'नाटक' के लिए है। इससे विभिन्न, 'प्रकरण' के लिए जिसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण 'मृच्छकटिकम्' है, अभिनय और उपस्थापन की शैली यहाँ दूसरी कोटि की है। क्योंकि नाटक और प्रकरण की नाट्य-धर्मिताओं में कुछ अन्तर है। इस प्रसंग में संस्कृत रंगमंच की वही दो प्रतिनिधि नाट्य-धर्मितायें, नाट्यधर्मी और लोकधर्मी अति उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः संस्कृत के समस्त प्रतिनिधि नाटक नाट्य-धर्मी रूढ़ियों के ही उदाहरण हैं, और उनमें 'शाकुन्तलम्' सर्वश्रेष्ठ है। नाट्य-शास्त्र का अभिनय-विधियों का अध्याय (३६ वाँ) इन्हीं नाट्य-धर्मी रूढ़ियों का अध्याय है। निश्चय ही जिस नाट्य-धर्मिता की नाट्य-कृति होगी, स्वभावतः उपस्थापक को उसी शैली में नाटक का सारा अनुष्ठान करना होगा। अर्थात् यदि इतिवृत्त लोक-विख्यात है, विषय उदात्त प्रेम है, पात्र देवता अथवा प्रसिद्ध राज-पुरुष है, रस शृंगार है, तो मंच-सज्जा रंगशिल्प से लेकर अभिनय-शैली तक सारी उपस्थापना संगीत, नृत्यवत गतियों, कलामय भंगिमाओं, और काव्यमय स्थितियों के निर्माण के ही भीतर की जाती है। उपस्थापन की यह शैली और अभिनय का आंगिक रूप, कलागत संचार, नृत्यवत गतियाँ, संक्षेप में नाट्यधर्मी परम्परा के अनुकूल हैं।

और यदि नाट्य-कृति प्रकरण है—अर्थात् यदि उसकी कथा, वर्ण्य-विषय, सामाजिक है, चरित्र, यथार्थ समाज से लिये गये हैं, उसमें विभिन्न सामाजिक चरित्रों के अनुकूल विभिन्न भाषायें, बोलियाँ—'स्वभावाभिनयोपतं नानास्त्री-पुरुषाश्रयम्, यदीदृशं भवेनाट्यं लोकधर्मी तु सा स्मृता' हैं : घटनायें—कार्य-

व्यापार अधिक हैं तो यह सब अपने प्रस्तुतिकरण के लिये अनुकरणवादी शैली की अपेक्षा करती हैं—और यही संक्षेप में 'लोकधर्मी' परम्परा के अन्तर्गत हैं। अर्थात् इस प्रकरण के उपस्थापन में नकल, अभिनटन अधिक होगा, मुद्राओं, नृत्यवत् गतियों और कलात्मक संकेतों का अपेक्षाकृत अभाव होगा। जो सत्य, नाट्य-स्थिति में इस प्रकार 'नाट्यधर्मी' में अभिनय, मुद्रा और कलागत प्रतीक और संकेत से व्यक्त किया जायेगा, वही 'लोकधर्मी' में यथार्थ वस्तु अथवा उसकी नकल से प्रस्तुत होगा। उदाहरण के लिये 'मृच्छकटिकम्' में वास्तविक गाड़ी की नकल की अपेक्षा है, जबकि 'शाकुन्तलम्' में दुष्यन्त के रथ, उसके वेग के लिये मात्र-अभिनय की श्रेष्ठ मुद्रायें और गतियाँ आवश्यक हैं।

इस प्रकार 'शाकुन्तलम्' का अभिनेता वाचिक और आंगिक अभिनय तथा कक्ष्याविभाग से संयुक्त मंच पर अपने देश-काल और परिस्थिति तथा उसके मंच-रूप का पूर्ण बोध प्रेक्षक को कराता है। ठीक मूल 'शेक्सपियर' मंचरूप की भाँति दर्शक की कल्पना-शक्ति जगानेवाला।

अभिनय के इस विशुद्ध कलात्मक रूप के अतिरिक्त रंगपीठ पर पर्दों अथवा रूढ़ियों द्वारा विभिन्न कक्ष्यों अथवा 'कोष्ठकों' का जो निर्माण होता था, उसमें इसी नाट्यधर्मी अभिनय-शैली से उन विभिन्न कोष्ठकों—अर्थात् देश-स्थान का बोध काव्यात्मक गति-प्रचार से, उसके अनुरूप 'रूपायति' करके होता है। जैसे 'शाकुन्तलम्' के प्रथम अंक में एक ही रंगपीठ पर, वहीं एक ओर रथ पर चढ़े हुए दुष्यन्त का मृग का पीछा करना, और वहीं गति-प्रचार से कण्व ऋषि के आश्रम में पहुँच जाना, फिर वहीं से आगे शकुन्तला को उपवन के पौधों को सींचते पा जाना। इसी प्रकार 'मृच्छकटिकम्' के दशम अंक के नाट्य-व्यापार और रंग-स्थान की उपस्थापना के लिये यही अभिनय अपेक्षित है। समूचे संस्कृत नाट्य-साहित्य में 'मृच्छकटिकम्' में नाट्य-धर्मी और लोक-धर्मी दोनों परम्पराओं का समन्वय है। फिर 'मृच्छकटिकम्' के चौथे अंक में चेटी और विदूषक के अनुक्रम में, जहाँ वसंतसेना के विशाल-भवन में चेटी विदूषक को क्रमशः प्रथम कोष्ठक (कक्ष्याविभाग) से आठ कोष्ठकों तथा उसे एक ही रंगपीठ पर प्रवेश कराती हुई, उसे भवन की सारी शोभा दिखाती हुई ले आती है।

## रंगमंच का अभिनय पक्ष

संस्कृत रंगमंच का सारा बल उसके अभिनय-पक्ष पर है। अभिनय के

माध्यम से मंचबोध, देश-काल परिस्थिति का अभिज्ञान तथा उन्हीं के सहारे दर्शकों को नाटक के पात्रों तथा भावों से साधारणीकरण का कार्य, उन्हें परिरूपितकर कल्पना-लोक में ले जाने का धर्म—इतनी मर्यादा है संस्कृत रंगमंच अभिनय की। कारण यह कि संस्कृत नाटक और रंगमंच का चरम उद्देश्य था दर्शकों को लोकोत्तर आनन्द देने, अर्थात् रसानुभूति कराने का धर्म।

आधुनिक रंगमंच की अभिनय-कला के केवल तीन माध्यम हैं :

- वाणी, वाक्शक्ति
- गति-प्रचार
- मुद्रा

पर संस्कृत रंगमंच में अभिनय की मर्यादा, व्यापकता और गहराई की दृष्टि से अतुल और अनुपम है।

पश्चिम से प्राप्त आधुनिक रंगमंच में 'अनुकरण' के आधार पर केवल अनुकरणमूलक अभिनय-स्तर को लोग प्राप्त कर सके हैं। किन्तु भारत में रस-सिद्धान्त के स्तर से भरत ने कहा है : 'आत्माभिनयनं भावो' (२६-३६) आत्मा का अभिनय भाव है। 'भाव' ही आत्म-चैतन्य में विश्रान्ति पा जाने पर 'रस' होते हैं। ठीक इसके विपरीत 'प्लेटो' ने अभिनय को अनुकरणमूलक मानते हुए अभिनेता में स्वभावतः चरित्र-हीनता आदि सीमाओं को स्वीकार किया है—क्योंकि वे क्षण-क्षण में अनुकरणशील होते हैं। सत्य को नहीं ग्रहण कर पाते। इसी के आधार पर आधुनिक रंगमंच में 'एक्टिंग' है—पात्रों के अनुरूप कार्य करना। हमारे यहाँ अभिनय है—मन के भावों में अनुभूत करानेवाला। तभी इसका रूप-विस्तार बाहर से अधिक भीतर उतारने वाला है, और मानव-मन और प्रकृति की समस्त वृत्तियों और रीतियों को समेटकर लाने वाला है।

नाट्य-शास्त्र में अभिनय-शास्त्र की मर्यादा और नियमों के प्रतिपादन में आठवें अध्याय से लेकर उन्नीसवें अध्याय तक कुल बारह अध्याय हैं। वस्तुतः इसी से संस्कृत रंगमंच में अभिनय की विराटता का अनुमान लग जाता है। आठवें अध्याय में आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक अभिनयों का पूरा शास्त्र दिया गया है। इसमें दृष्टि-अभिनय के ऊपर भरत ने जितना मार्मिक वर्णन दिया है, वह अद्वितीय है। दृष्टि को अभिनय की आत्मा माना है। नवें अध्याय में हस्ताभिनय (उपांगाभिनय) का वर्णन, चरणों (पाद, जंघा, उरु और कटि) के द्वारा जो अभिनय संभव है, उन्हें 'चारी' कहा जाता है। ग्यारहवें अध्याय का नाम 'मंडल-विधान' है। चारियों के संयोग से विविध मंडलों की उत्पत्ति

होती है। बारहवें अध्याय में गति-प्रचार का शास्त्र है। किस रस के नाटक में किस प्रकार की गति होनी चाहिये, किस प्रकार की प्रकृति के अनुरूप कैसी गति हो—इस प्रकार विभिन्न गति-भेदों-प्रकारों का यहाँ उल्लेख है। फिर स्त्री-पुरुष के बैठने-उठने की भी अभिनय-विधि बतायी जाती है। चौदह से लेकर उन्नीसवें अध्याय तक वाचिक अभिनय का वर्णन है। निश्चय ही यह भारतीय नाट्य अभिनय-कला का अद्भुत विराट् भंडार है।

पर इस विराट अभिनय-शास्त्र का व्यवहार उस काल के रंगमंच में क्या था—यह आज मूल प्रश्न है। वस्तुतः इसका व्यवहार-चित्र अथवा इस अभिनय-शास्त्र का मूर्त-चित्र संस्कृतनाट्य वृत्तियों में स्पष्टतः उपलब्ध है। रंगमंच के विद्यार्थी के लिये संस्कृत रंगमंच की अभिनय-कला, नाट्य-कृतियों में जैसे सजीव चित्रों की तरह बाँधकर रखी गयी है। इस संदर्भ में संस्कृत नाटक को उसके रंगमंच की दृष्टि से पढ़कर ऐसा लगता है कि नाट्य-कृति रूपी समुद्र में उसका व्यावहारिक रंचमंच, उसमें परिव्याप्त अतलस्पर्शी विशाल पर्वत की भाँति है, जिसके केवल शिखर पानी के ऊपर दीख पड़ते हैं, शेष उसके अन्तस्तल में रस-मग्न रहते हैं। और इस मूर्त अभिनय-क्षेत्र में कालिदास की सरस लेखनी सर्वाधिक बलवती है।

'मालविकाग्निमित्र' में दो रंग-आचार्यों के बीच अपनी-अपनी कला-चातुरी के सम्बन्ध में तनातनी होती है। फिर यह निर्णय होता है कि दोनों की अभिनेत्रियाँ अपनी अभिनय-कला को दिखायें। तो मृदंग बज उठता है। प्रेक्षागृह में दर्शकगण बैठ चुके हैं। यह पहले निश्चित हो गया कि चलित अभिनय ही होगा जिसमें अभिनेता पात्र की भूमिका में उतरकर मनोभाव—व्यक्तिकरण का अभिनय करे। इसके लिये पहले मालविका ने गान प्रारम्भ किया। दृश्य-मर्म यह था कि दुर्लभ जन के प्रति प्रेमपरवशा प्रेमिका का चित्त एक बार पीड़ा से भर उठता है, बहुत दिनों के बाद फिर उसी प्रियतम को देखकर उसी की ओर वह आँख बिछाये है। भाव मालविका के सीधे हृदय से निकले थे, कण्ठ उसका करुण था। उसके अतुलनीय सौन्दर्य, अभिनय-व्यंजित अंग-सौष्ठव, नृत्य की अभिराम भंगिमा और कंठ के मधुर संगीत से राजा और प्रेक्षकगण सब मन्त्र-मुग्ध हो गये। इस अभिनय के बाद ही जब मालविका पर्दे की ओर जाने लगी, तो विदूषक ने किसी बहाने उसे रोका—वह ठिठककर खड़ी हो गयी (अब उसकी अभिनय-मुद्रा, गति प्रचार और सम्पूर्ण अभिनय का सजीव चित्र देखिये)। 'उसका बाँया हाथ कटिदेश पर विन्यस्त था, उसका कंकण कलाई पर सरक आया था, दाहिना हाथ शिथिल श्यामलता के समान सीधा झूल पड़ा था। झुकी हुई दृष्टि पाद पर पड़ी हुई थी, जहाँ पैर के अँगूठे फर्श पर बिछे हुए पुष्पों को धीरे-धीरे सरका रहे थे और कमनीय देह-लता नृत्य-भंगी से ईषदुन्नीत थी'—मालविका

ठीक उसी प्रकार खड़ी हुई जिस सौष्ठव के साथ देह-विन्यास, करके अभिनेत्री को रंगभूमि में खड़ा होना उचित था :

**वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे,**
**कृत्वा श्यामविटपि सदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम् ।**
**पादांगुष्ठालुलित कुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं,**
**नृत्यादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायताक्षम् ॥**

यह है उस युग के अभिनय का सजीव आदर्श चित्र । निश्चय ही इस अभिनय-कला का सारा शास्त्र-संकेत नाट्यशास्त्र में दिया हुआ है, और जो प्रयोग तथा रंगकर्म के बिना हृदयंगम नहीं हो पाता, न जिसे हम आज अपने-अपने व्यवहार में ही ला पाते हैं । यहाँ बिना बोले अभिनय का रूपकत्व भाव स्पष्ट प्रकाशित है । यहाँ जिस रस का, चरित्र का अभिनय हुआ है, वह पूर्ण सफल है । तन्मयता स्पष्ट है, भाव-चेष्टा सजीव और चित्ताकर्षक है ।

## अभिनय पद्धति के मूल तत्त्व

संस्कृत रंगमंच में अभिनय का अर्थबोध बड़े ही स्पष्ट और निश्चित रूप में हुआ है। अभिनय का स्पष्ट अर्थ है यहाँ, नाट्य-प्रयोग द्वारा नाटक में मुख्य अर्थ को प्रेक्षक के हृदय तक सम्प्रेषित करना । यह अभिनय-क्रिया मूलतः चार प्रकार की बताई गई है :

आंगिक, वाचिक, आहार्य, सात्विक ।

आंगिक अभिनय का क्षेत्र है, शरीर, मुख और चेष्टाओं से नाट्य-स्थितियों का अर्थ व्यक्त करना । इन तीनों में चेष्टाकृत अभिनय बहुत ही महत्वपूर्ण है । चेष्टाकृत—अर्थात् पूरे शरीर की किसी विशेष चेष्टा से, भाव से, अनुभूति से किया जानेवाला अभिनय । इसके अन्तर्गत सिर, कटि, हाथ, वक्ष, पार्श्व और चरण इन छः अंगों के अभिनय आते हैं । तथा कंधा, बाँह, पीठ, उदर, उरु, जंघा इन छः प्रत्यंगों के अभिनय का योग है । और आँख, भौंह, नाक, अधर, कपोल और ठोढ़ी इन छः उपांगों से अभिनय-क्रियायें होती हैं ।

इस तरह से अभिनय की तीन प्रक्रियायें होती हैं, जिन्हें शाखानृत्त और अंकुर कहते हैं । इनमें से आंशिक अभिनय तो शाखा कहलाता है । सूचना को अंकुर कहते हैं, और अंगहार से युक्त करण पर आश्रित अभिनय को नृत्त कहते हैं ।

भरत ने शरीर-आंगिक अभिनय में सिर के तेरह, दृष्टि के छत्तीस, आँखों

के तारों के नौ, भौहों के सात, नाक के छः, कपोल के छः, अधर के छः और ठोड़ी के आठ अभिनय बताए हैं। आंगिक अभिनय में तेरह प्रकार का दोनों हाथों का अभिनय, चौबीस प्रकार का एक हाथ का अभिनय, चौंसठ प्रकार का नृत्त-हस्त का अभिनय और चार प्रकार का हाथ के करण का अभिनय है। इसके अतिरिक्त नाट्य-शास्त्र में भरत ने सोलह भूमिचारियों और सोलह आकाशचारियों का वर्णन किया है। इसके बाद दस आकाश-मंडल और दस भौम-मंडल के अभिनयों का परिचय देकर गति के अभिनय का विस्तार से उल्लेख किया है, कि कौन-सी भूमिका ग्रहण करनेवाले को किस प्रकार से मंच पर चलना चाहिये। किस रस में अभिनेता की कैसी गति होनी चाहिये। किस जाति, आश्रम, वर्ण और व्यवसाय वाले को कैसे मंच पर चलना चाहिये तथा रथ, विमान पर आरोहण या अवरोहण तथा आकाशगमन आदि का अभिनय किस गति से करना चाहिये।

जैसे पश्चिम के देशों में आज, विशेषकर लयवादियों (क्युबिस्टस) ने अभिनय-कौशल के लिये विशेष व्यायाम का विधान किया है, उससे कहीं अधिक भरत ने अभिनय के लिये व्यायाम, नृत्य और आहार के नियम बताये हैं।

वाचिक अभिनय का क्षेत्र वचन और वाणी है—अभिनेता नाट्य प्रयोग में मुख से जो कुछ कहता है, वह सब वाचिक अभिनय में आता है।

सात्विक अभिनय उन भावों का वास्तविक और हार्दिक अभिनय कहलाता है, जिन्हें रस-सिद्धान्तवादी सात्विक भाव कहते हैं।

आहार्य अभिनय वास्तव में वस्त्र सम्बन्धी नियमों के अन्तर्गत है। वेश-भूषा भूमिका को प्रकट करने में जितनी सहायक होती है, उससे भी अधिक इससे अभिनय में सम्पूर्णता आती है, तथा पररूपण के लिये यही मूलाधार सिद्ध होता है।

## मंडल और गति

पश्चिम के 'ग्रुपिंग' के सम्पूर्ण अर्थ में मंडल नहीं आता। मंडल का अधिक अर्थ है यहाँ शरीर की मुद्रा। इसे और भी स्पष्ट रूप में जानने के लिये 'चारी', 'करण' को पहले जानना चाहिये। अर्थात् पैर, जंघा और कटि इनकी समान रूप से चेष्टा को चारी कहते हैं। इसी चारी को व्यायाम भी कहते हैं। एक पैर के प्रचार को चारी, दोनों पैरों के प्रचार को 'करण' तथा तीन करणों के एक साथ प्रयोग को 'खंड' और तीन-चार खंडों को मिलाकर एक मंडल का प्रयोग होता है।

ये मंडल दो प्रकार के होते हैं : भूमिगत और आकाशगत। भरत ने मंडल और चारी के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के पात्रों के प्रवेश तथा उनके चलने की रीति अर्थात् गति को भी बहुत विस्तार से बताया है।

गति प्रचार को कई रूपों में बाँटकर देखा गया है, जैसे 'लयगति', 'रसानुसारी गति', विदूषक और स्त्री की गति आदि।

## करण, अंगहार और रेचक

विभिन्न अंगों और प्रत्यंगों की अभिनय-मुद्राओं के मेल से 'करण' बनते हैं और अनेक करणों के मेल से अंगहार बनते हैं।

स्थानक (खड़े होने की स्थिति), चारी तथा नृत्तहस्त के मेल से करण बनता है। अर्थात् हाथ और पैर की विभिन्न गतियों के मेल से नृत्य में करण बनता है। किसी भी एक अभिनय-क्रिया में मुख्यतः दो करण होते हैं, और ऐसे तीन या चार करणों से अंगहार बनते हैं। करण में अभिनेता का शरीर एक ही निश्चित स्थिति में रहता है, किन्तु अंगहार में निरन्तर स्थानक का परिवर्तन होता रहता है।

नाटक-शास्त्र में, ऐसे करण एक सौ आठ गिनाये गये हैं तथा अंगहार बत्तीस।

# दर्शक

नाट्य-सिद्धियों के प्रसंग में भरत ने नाट्य-शास्त्र के सत्ताईसवें अध्याय में दर्शकों अर्थात् प्रेक्षकों के सम्बन्ध में विस्तार से बताया है। सबसे पहले प्रेक्षकों के गुणों की सूची दी है। यद्यपि भरत ने प्रारम्भ में ही यह बताया है कि यह नाटक (नाट्यवेद) सबके लिये है। सब वर्णों के लिये यह दर्शनीय है। किन्तु फिर भी प्रेक्षक के कुछ मूलगुण होने चाहियें। प्रदर्शन-आनन्द के लिये वे गुण सर्वथा अनिवार्य हैं।

१—जो व्यक्ति ठीक इन्द्रियोंवाला हो, प्रत्येक बात, भाव और विचार को उचित रूप में, ग्रहण करनेवाला हो, दोषरहित हो, अनुरागी हो, वही प्रेक्षक हो सकता है।

२—संतोष के अवसर पर संतुष्ट हो, शोक से शोकान्वित, क्रोध में क्रुद्ध और भय में भयभीत, वही श्रेष्ठ प्रेक्षक है।

इन मूल गुणों के अतिरिक्त, दर्शक के विषय में विशेषकर उसकी भावगत विशेषताओं के बारे में भरत ने बड़े विस्तार से लिखा है। तथा दर्शक की सहृदयता पर बहुत आग्रह किया है। इसका मूल कारण यह है कि दर्शक ही तो रंगमंच के सम्पूर्ण व्यापार में भावमग्न होनेवाला या भावानुभूति करनेवाला है। अभिनेता मंच पर नाटक को प्रस्तुतकर उसके मूलभाव की रचना करता है, तथा दर्शक उसे साक्षात् ग्रहण करता है। इसी लिये संस्कृत रंगमंच में दर्शक को 'रसरंजक' कहा गया है।

यह रस-रंजक दर्शक नाटक के प्रस्तुतिकरण से तभी उस आनन्द को पा सकता है, जब रस-निष्पत्ति की पूरी सामग्री विद्यमान हो, और वह अपनी पूर्ण अन्विति को प्राप्त कर सके। इस प्रसंग में प्रेक्षक की 'रुचि' और उसका सौन्दर्य-बोध बहुत ही महत्वपूर्ण है। यही वह सत्य है, जहाँ से दर्शक अपने युग के रंगमंच तथा नाट्य-लेखन को प्रभावित करता है। संस्कृत रंगमंच में, काव्य-सत्य के पीछे उस युग-काल के दर्शक की मनोवृत्ति और उसका सौन्दर्य-बोध बोलता है। श्रेष्ठ नाटकार प्रेक्षक की रुचि और उसके सौन्दर्य-बोध को विकसित भी करता है। किन्तु वह तभी संभव है जब नाटककार, मंच-प्रयोग और दर्शक ये तीनों आयाम परस्पर समन्वित हों, तथा एक दूसरे से विश्वस्त हों। इन तीनों आयामों में से यदि दर्शक रंगमंच से दूर रहा तो रंगमंच का ह्रास निश्चित है।

दर्शक में रंगमंच की परम्परा और उसकी रूढ़ियाँ विद्यमान रहती हैं। नाटककार अथवा रंगमंच-शिल्पी उसी परम्परा और नाट्यरूढ़ियों के आधार पर दर्शक को अपनी ओर आकर्षित करता है। या यों कहें कि दर्शक-समाज नाटककार अथवा रंगमंच-शिल्पी को अपनी ओर खींचता है। यही परम्परा का आकर्षण और खिचाव जब टूट जाता है, तब भी रंगमंच की मूल परम्परायें और रूढ़ियाँ, उसके प्रति समाज का सौन्दर्य-बोध दर्शक के अन्तर्मन में सदा विद्यमान रहते हैं। वे कभी नहीं टूटते। बल्कि जीवन, समाज, राजनीति अर्थ, सभ्यता और संस्कृति इन सब के अनुरूप उनमें भीतर ही भीतर विकास होता रहता है। भविष्य का नाटककार, रंगमंच-शिल्पी सहसा एक दिन समाज के भीतर से उसी सत्य को पकड़ लेता है और एक नये रंगमंच का सूत्रपात करता है। और नाट्य-लेखन तथा रंगमंच के एक नये युग की शुरुआत हो जाती है। यह नया युग उसी परम्परा से ही उद्भूत होता है, और इसका सेतु होता है वही प्रेक्षक-समाज। उसके भीतर अबाध गति से बहती हुई रंग सलिल-धारा, जिसमें निमज्जित होकर नया रंगमंच सहसा एक दिन प्रकट हो जाता है।

दर्शक, रंगमंच का अबाध सनातन माध्यम है, कभी प्रकट रूप से कभी अप्रकट में, कभी प्रत्यक्ष कभी अप्रत्यक्ष स्तर से। तभी यह सत्य है कि रंगमंच की परम्परा अबाध है, सनातन है। और इस सत्य का मूलाधार है वही दर्शक-समाज : उसका भावबोध, उसकी रसरंजकता।

दर्शक अथवा प्रेक्षक के ही परिप्रेक्ष्य में भरत ने 'नाट्य सिद्धियों' की चर्चा की है। नाट्य-शास्त्र में बताया गया है कि नाट्य प्रस्तुतिकरण की सिद्धि और उपलब्धि का निर्णय बारह सिद्धियों पर अवलम्बित है। इनमें दस तो मानुषी सिद्धियाँ हैं और दो दैवी। मानुषी सिद्धियों में दो शारीरिक हैं और शेष आठ वाङ्मयी।

मानुषी सिद्धियाँ वे हैं, जब दर्शक-समाज अभिनेता के सुन्दर अभिनय तथा उसकी श्रेष्ठ कलात्मकता से अभिभूत होकर शारीरिक चेष्टाओं द्वारा सराहना व्यक्त करे।

जब दर्शकगण नाट्य-प्रदर्शन को देखकर मुख से, वाणी से उसकी प्रशंसा करें, तो वह वाङ्मयी सिद्धि कहलाती है। ये सिद्धियाँ आठ प्रकार की होती हैं :

स्मित, अर्द्धहास, अतिहास, साधुकार, अहोकार, कष्टकार, प्रबुद्धनाद, अवक्रुष्ट।

दैवी सिद्धि पात्र की भूमिका के अनुरूप वेषभूषा और भावभंगी बना लेने की ऐसी सफलता है, जिससे कि दर्शक-समाज मुग्ध हो जाय। यह पहली दैवी सिद्धि है कि नाटक प्रारम्भ होने से अंत तक अभिनेता की भूमिका में, पर-रूपण में कहीं से कोई बाधा न उपस्थित हो जाय—जैसे बीच में ही रूप-विन्यास का

कोई तत्व न गिर जाय, वस्त्र-विन्यास में, मुखौटे में, मंच सामग्री में से कुछ फट या टूट न जाय—नहीं तो दर्शक की कल्पना और विश्वास में बाधा उपस्थित हो जाय।

संस्कृत रंगमंच के अन्तर्गत प्रेक्षागृह अथवा रंगशाला स्थायी और अस्थाई दोनों प्रकार के होते थे। नाट्य-प्रदर्शन देखने वाले दर्शकों में अधिकांश समाज रस-शास्त्र के नियमों से पूर्णतः परिचित था। कालिदास और हर्ष के नाटकों में 'अभिरूप भूयिष्ठा' और 'गुणग्राहिणी परिषद्' इन दोनों का उल्लेख है।

●

## रंगभवन—प्रेक्षागृह

भरत ने नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में तीन प्रकार ने प्रेक्षागृहों का विधान बताया है—'विकृष्ट' (लम्बा आयताकार), चतुरस्र, (वर्गाकार) और 'त्र्यस्र' (तिकोना)।

ये तोनों प्रकार के प्रेक्षागृह तीन-तीन परिमाण के होते थे—'ज्येष्ठ,' 'मध्यम' और 'अवर' (कनिष्ठ)। इस प्रकार कुल नौ प्रकार और परिमाण के प्रेक्षागृह के विधान हुए—जो हाथ[1] की नाप के अनुसार निम्नलिखित हैं :

| | |
|---|---|
| १—विकृष्ट ज्येष्ठ प्रेक्षागृह | १०८×५४ हाथ |
| ,, मध्यम ,, | ६४×३२ ,, |
| ,, कनिष्ठ ,, | ३२×१६ ,, |
| २—चतुरस्र ज्येष्ठ प्रेक्षागृह | १०८×१०८ हाथ |
| ,, मध्यम ,, | ६४×६४ ,, |
| ,, कनिष्ठ ,, | ३२×३२ ,, |
| ३—त्र्यस्र ज्येष्ठ प्रेक्षागृह | १०८ हाथ लम्बा |
| ,, मध्यम ,, | ६४ ,, |
| ,, कनिष्ठ ,, | ३२ ,, |

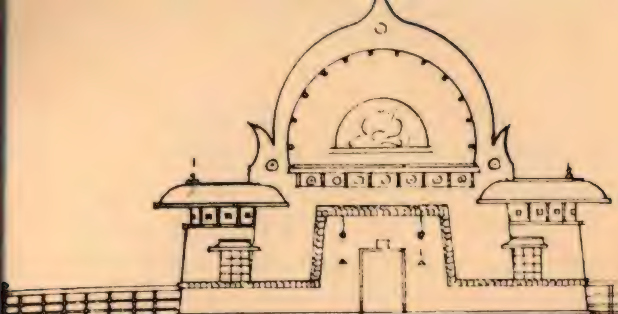
इस नाप के अनुसार चौंसठ हाथ (९६फुट) लम्बा और बत्तीस हाथ (४८ फुट) चौड़ा विकृष्ट मध्यम प्रेक्षागृह ही मर्त्य लोगों के लिये बनाना चाहिये। इससे बड़े प्रेक्षागृह में नाट्य का 'रस' नहीं मिलता।

प्रथम प्रेक्षागृह देवताओं के लिये है। दूसरा विकृष्ट मध्यम मनुष्य के लिये उत्तम और आदर्श माना गया है। सब कुछ ध्यान में रखकर, सब प्रकार के प्रेक्षागृहों में मध्यम ही अच्छा है, क्योंकि इसमें पाठ्य और अभिनय अधिक पूर्ण-रूप में सुनायी और दिखाई पड़ता है।

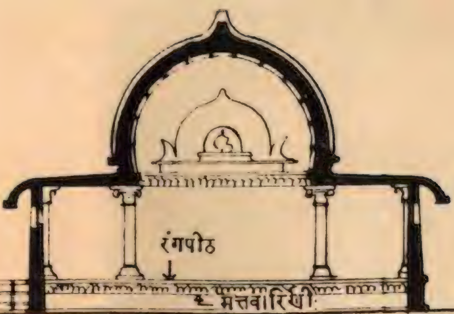
वस्तुतः इसी दूसरे प्रकार के नाट्यगृह का ही वर्णन, नाट्य-शास्त्र में आदर्श मानकर अधिक विस्तार के साथ किया गया है। इसमें समग्र भूमि को दो भागों में बाँट दिया जाता था, एक भाग रंगभूमि (स्टेज) और दूसरा भाग प्रेक्षक भूमि-दर्शकों के बैठने के लिये, (आज के 'आडीटोरियम' के अर्थ में)। यहाँ पर

---

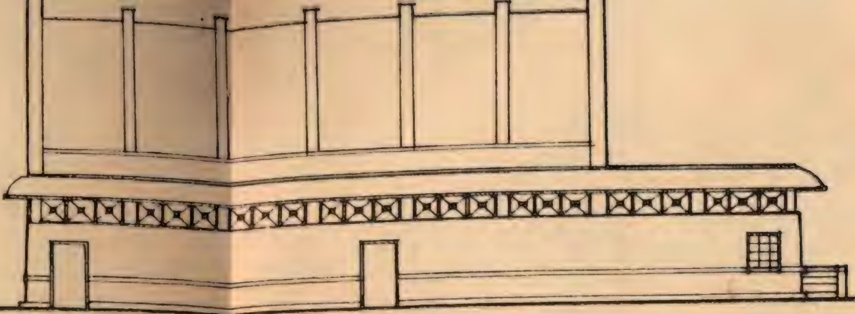
१. चौबीस अंगुल का एक हाथ। अर्थात् एक हाथ आज के डेढ़ फुट के बराबर।



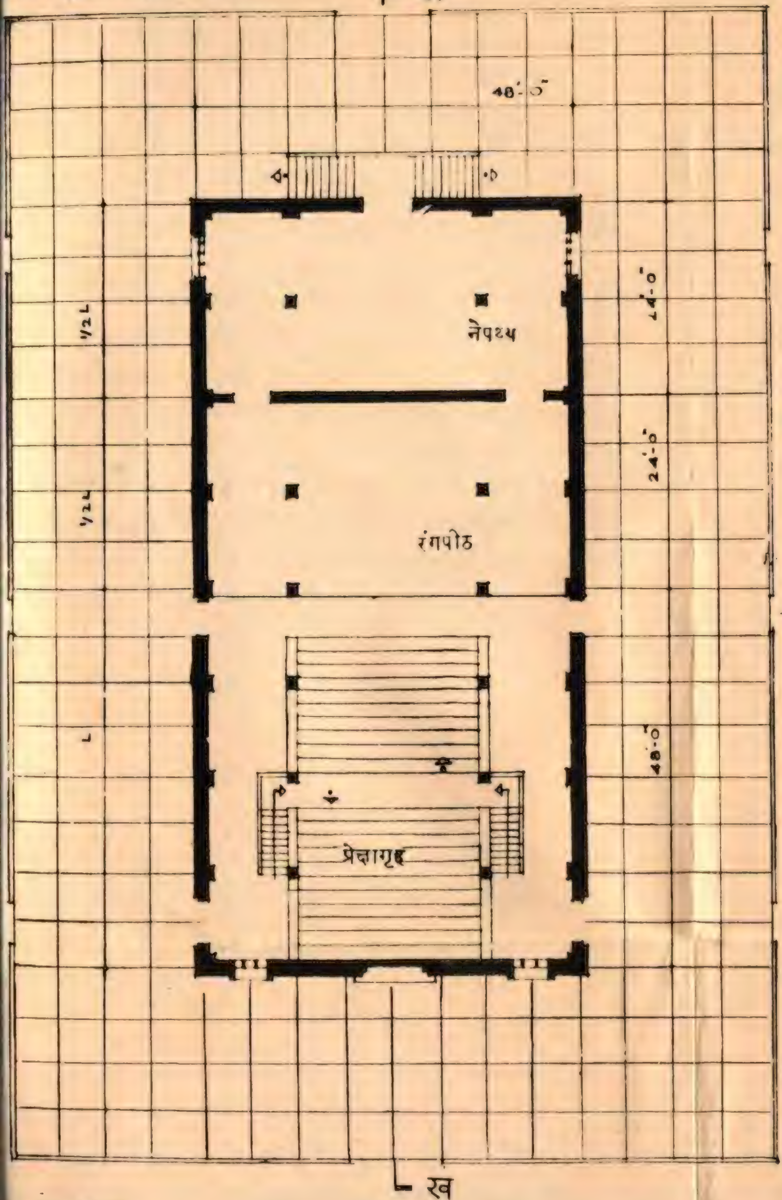
सम्मुख दर्शन



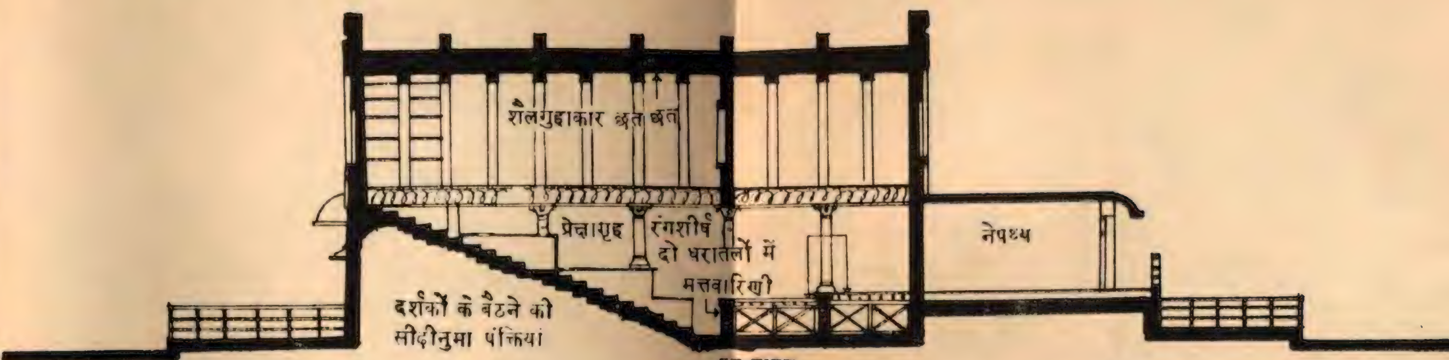

मध्य दर्शन
क-क के मध्य



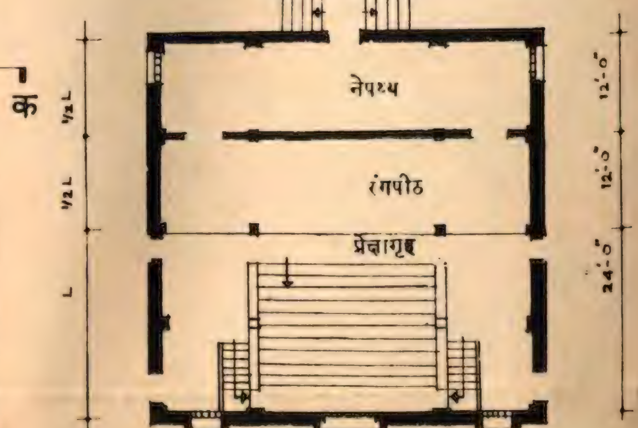
पार्श्व दर्शन




मानचित्र
विकृष्ट मध्यम प्रेक्षागृह




पार्श्व दर्शन
ख-ख के मध्य




मानचित्र
चतुरस्र कनिष्ठ प्रेक्षागृह
नाप ४८'×४८'




मानचित्र
त्र्यस्र कनिष्ठ प्रेक्षागृह
नाप ४८' त्रिभुज

प्राचीन भारतीय प्रेक्षागृह

श्वेत स्तंभ के पास ब्राह्मण बैठते थे। यह श्वेत स्तंभ मंच के ठीक सामने होता था। इसके थोड़ी दूरी पर क्षत्रियों के बैठने का स्थान होता था, जिसके लिये रक्तवर्ण का स्तंभ होता था। उत्तर-पश्चिम दिशा में पीतवर्ण का स्तंभ वैश्यों के लिये होता था और उत्तर-पूर्व में शूद्रों के लिये नील वर्ण का स्तंभ।

सामने दूसरा भाग (दर्शकों के समक्ष) 'रंगपीठ' का होता था। 'रंगपीठ' के पीछे का भाग 'रंगशीर्ष' होता था। इसके पीछे पर्दा पड़ा रहता था जिसके कई नाम—पटी, अपटी और तिरस्करणी आदि मिलते हैं। इस पर्दे के पीछे का भाग 'नेपथ्य' होता था। पृष्ठभूमि-अभिनय, शोर, दूर-संगीत, कोलाहल आदि का कार्य यहीं से लिया जाता था। देवताओं की वाणी अथवा आकाशवाणी भी यहीं से अभिनीत होती थी। नेपथ्य में दो द्वार होते थे जिनमें एक से सीधे 'रंगशीर्ष' में प्रवेश किया जाता था। दायीं-बायीं ओर वादक बैठते थे। यह सत्य स्थायी रंगशालाओं के विषय में है। राजभवन के भीतर निश्चित रूप से ऐसी रंगशालायें हुआ करती थीं। संस्कृत नाटिकाओं में अन्त:पुर के भीतर अन्त:पुरिकाओं के विनोद के लिये नृत्य, गान, नाट्य अभिनय का उल्लेख पाया जाता है।

पर साधारण नागरिक यथा अवसर अस्थायी रंगशालायें बनवा लेते थे। पर इनके बनवाने में पूरी सावधानी बरती जाती थी और इनका निर्माण अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता था।

राजाओं की विजय-यात्राओं के पड़ाव पर भी अस्थायी रंगशालायें बनवा ली जाती थीं। गुफाओं और मंदिरों में भी रंगशालायें मिलती थीं। उदाहरण के लिये प्रभाव की दृष्टि से दक्षिण के चिदंबरम् आदि मंदिरों पर नाट्य-शास्त्र बताये हुए विविध अंगहार चित्रित हुये हैं। कोणार्क के मंदिर में भी नाना प्रकार के शास्त्रीय आसन उत्कीर्ण हैं। इन चित्रों से बहुत-सी लुप्त अभिनय-[illegible]गिमाओं और मुद्राओं के समझने में सहायता मिलती है।

## [illegible]वारिणी

[illegible]पीठ पर 'मत्तवारिणी' का विधान सर्वत्र आया है। इसे जानना आवश्यक [illegible]। मत्त—मतवाला, और वारण—हाथी। आशय है मतवाले हाथी के [illegible] हुए सूँड के आकार की बनी हुई अम्बारी। 'समरांगण सूत्रधार' में इसका विवरण इस प्रकार दिया हुआ है।

**मुखभद्रं भवेद् युक्तं वेदिका मत्तवारणैः ।**
**क्षेत्र भागोदयार्थं भूराभूमिफलकान्तरम् ।।**

—राजगृह अध्याय ३०/६

(ऐसी मथवारी या अभारी से वेदिका का सामना सुहावना हो जाता है, जो भूमि के एक छोर से उठकर भूमि के पूरे छोर तक के भाग को ढके रहे ।)

भारतीय नाट्यप्रणाली में मत्तवारिणी अत्यन्त आवश्यक होती थी । संस्कृत-मंच पर एक ही अंक, दृश्य में कई स्थलों, भूमियों पर अभिनय करना पड़ता था । मंच-कार्य में जब पात्र कहता था, मुझे अमुक स्थान जाना है, या मुझे अमुक जगह ले चलो, तब पात्र मंच की परिक्रमा करके, मत्तवारिणी में सजे, हुए, तैयार दृश्य में पहुँच जाते थे ।

अभिज्ञान शाकुन्तलम् का छटा अंक इस प्रसंग में उल्लेखनीय है । राजा का साला और उसके पीछे दो राजपुरुष धीवर को बाँधकर लाते हैं । सब राज-द्वार पर पहुँचने के लिये घूमते हैं (सर्वे परिक्रामन्ति) फिर सब जाते हैं । इसके बाद सानुमती अप्सरा का प्रवेश होता है । इस दृश्य के लिये मंच के दो धरा-तल आवश्यक हैं । फिर दो दासियाँ आती हैं, कंचुकी आता है । राजा और विदूषक का प्रवेश होता है । ये माधवी मंडप में जाने के लिये घूमते हैं (उभौ-परिक्रामतः) । यह माधवी मंडप निश्चय ही एक मत्तवारिणी में बना रहता है । वहाँ बैठकर शान्ति से चित्र बनाया जाता है । राजकार्य भी पत्र द्वारा देखा जाता था । विदूषक चला जाता है । इतने में विदूषक का आर्तनाद सुनकर राजा माधवी मंडप से उठ जाता है और सामने की दूसरी ओर की मत्तवारिणी में बने हुए प्रासाद-दृश्य में जाता है । तभी संस्कृत मंच के रंगशीर्ष पर दोनों ओर मत्तवारिणी का होना आवश्यक बताया जाता है ।

●

# भारतीय रंगमंच : इतिहास और परम्परा

भारतीय रंगमंच—अर्थात् संस्कृत और मध्ययुगीन रंगमंच का इतिहास और उसकी परम्परा जानने के लिये हमें मूलतः इसके नाट्य-साहित्य के अध्ययन से ही रंगमंच-बोध लेना पड़ेगा। अर्थात् रूपक और नाटक के ही माध्यम से उसकी अवधारणा ग्रहण करनी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त और कोई महत्वपूर्ण विकल्प नहीं। संस्कृत नाट्य-शब्दावली में अभिनय, रूपक और प्रेक्षक आदि अनेक पारिभाषिक शब्दों के धात्वर्थ और रूढ़ अर्थ, संस्कृत नाटक की प्रदर्शन-शैली और रंगमंच-प्रकार की ओर निश्चित संकेत करते हैं। इन नाटकों के रंग-निर्देशों में अनेक अभिनय-रूपों, तत्त्वों, कार्यों के जो संकेत मिलते हैं, उनसे संस्कृत रंगमंच का विधान काफी स्पष्ट हो जाता है।

## संस्कृत रंगमंच का प्रारम्भ

संस्कृत रंगमंच के प्रारम्भ के विषय में निम्नलिखित धारणायें और विचार मिलते हैं :

(क) शुद्ध भारतीय परम्परावादी मत, दैवी उत्पत्ति में विश्वास करता है। अर्थात् आदिकाल में देवताओं के आग्रह पर ब्रह्मा ने नाट्यवेद की रचना की। देवताओं का आग्रह था कि किसी ऐसी वस्तु का आविष्कार किया जाय, जो आँख और कान दोनों को सुख दे सके। इसी आग्रह पर ब्रह्मदेव ने मनुष्य के कल्याण के लिये ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद से क्रमशः मंत्र, भावमुद्रा, गान और संगीत तथा रस ग्रहण करके नाट्य की नींव डाली। शिव और पार्वती ने उसमें तांडव और लास्य मिलाया, और विष्णु ने उसमें नाटकीय शैली की देन दी। और भरतमुनि उसको लेकर धरती पर आये।

(ख) दूसरा विचार है कि कठपुतली से संस्कृत रंगमंच की उत्पत्ति हुई। इसका आधार है 'सूत्रधार' शब्द।

(ग) धार्मिक उत्सव—इन्द्रध्वज आदि उत्सवों के समय होनेवाले अभिनयों से ही संस्कृत रंगमंच का उदय।

(घ) ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों से।

(ङ) वैदिक कालीन धार्मिक कर्मकांड या पौरोहित्य कर्म से।

अर्थात् प्रायः सभी पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वान् संस्कृत नाटक और रंगमंच का धार्मिक भूमि से उद्भव मानते हैं। अकेले प्रोफेसर जागीरदार हैं जिन्होंने इन सारे धार्मिक विचारों का खंडनकर, यह बताया कि आर्य जाति की एक शाखा 'भरत' या 'भूत' से यह कला उदित हुई। आर्य पुरोहितों ने 'भरत' को शूद्र कहा और नाट्य-शास्त्र के अनुसार भरत के सौ पुत्रों को ब्राह्मणों ने श्राप भी दिया।

वस्तुतः यह सब-कुछ पुराण है। 'मिथ' है, तथा इसका सम्बन्ध दुनियाँ के सभी देशों के रंगमंचों के उदय से जुड़ा है। किन्तु जहाँ तक वैज्ञानिक दृष्टि का सवाल है, किसी भी समाज में रंगमंच उसी भूमि से पनपता है, जो उस युग-काल की सबसे ज्यादा कोमल, कठोर और भाव-प्रवण धरती होती है। निश्चय ही संस्कृत रंगमंच का आदि-काल हमारी सभ्यता का वैदिक काल रहा होगा। उस वैदिक भूमि में उसकी चेतना और सामाजिकता में जो धरती सबसे ज्यादा कोमल, कठोर और भाव-प्रवण रही, वह भूमि है 'यज्ञ'। इसी यज्ञ के मूल उत्स से आर्यों की जहाँ सारी सभ्यता और संस्कृति पनपी है, स्वभावतः इसी उत्स से नाटक और रंगमंच भी पैदा हुआ। इसी से उसका गायन, वादन और नर्तन उपजा।

'सोम क्रयण'[1] में नाट्य-तत्त्व, तथा 'महाव्रत' में होनेवाली नृत्य आदि क्रियायें उसी यज्ञ-भूमि के ही चारों ओर उपजे हुए रंग और नाट्य-तत्त्व हैं। यज्ञ के साथ ही कालान्तर में कर्मकांड पैदा हुआ और कर्मकांड के भीतर छिपे हुए संदेश, दर्शन और कथा-वस्तु को अभिनय और नृत्य द्वारा समाज को सम्प्रेषित करने के लिये निश्चय ही रंगमंच आया होगा—चाहे वह इन्द्र महोत्सव के उल्लासमय क्षणों पर, चाहे किसी महाशत्रु के विजयपर्व पर, चाहे किसी सामूहिक कृषि की फलभोगी माधवी रात्रि में—बीच में यज्ञ की अग्नि और उसके चारों ओर अभिनटन करते हुए लोग और उस परिधि को घेरकर बैठा हुआ अपार जन-समूह। मातृ-सत्ता का यही सौन्दर्य-बोध, राग-बोध हमारा आदि रंगमंच रहा है। उसके बाद आया वह युग जब मातृ-सत्ता की जगह आयी पितृ-सत्ता। यहीं से शुरू हुआ 'नायक'।

इसके बाद आया राजा। राजन्य संस्कृति, उसका सौन्दर्य-बोध। यहीं से

---

१. ऋग्वेद, १-२४ से १-३० तक

शुरू हुआ नाटक का लिखा जाना और उसका राजमंडप में, राज-भवन में, अन्तःपुर में अभिनीत होना। और यहीं से विकसित हुई संस्कृत-नाट्य की 'नाट्यधर्मी' परम्परा—जिसके कालान्तर में नाटककार हुए भास, अश्वघोष, कालिदास और भवभूति।

यज्ञ की मातृ-सत्ता की संस्कृति में पनपा हुआ वह 'नाट्य' स्वाभावतः कालान्तर से लोक-जीवन में, प्रजा में फैला, और उसी को 'नाट्यधर्मी' के समानान्तर 'लोकधर्मी' की संज्ञा प्राप्त हुई।

संस्कृत रंगमंच में ये दोनों नाट्य-परम्परायें 'नाट्य-शास्त्र' की मूल धर्मितायें बनीं।

## इतिहास और परम्परा

भारतीय रंगमंच के उदय और उससे वैदिक संस्कृति (यज्ञ) का अभिन्न सम्बन्ध रहा है, इसका प्रमाण हमें स्वयं नाट्य-शास्त्र में मिलता है। पितृसत्ता-युग में मातृसत्ता का यह 'यज्ञ' स्वभावतः अपने प्रतीक अर्थ में बदल गया। अब वह 'देवासुर-संग्राम,' 'इन्द्रविजय' और 'महेन्द्र विजयोत्सव' का अर्थधारी हो गया। क्योंकि नायक (इन्द्र) की कल्पना तब अवश्यंभावी बनी और इसी सत्य की प्रतिच्छाया नाट्य-शास्त्र में है। नाट्य-प्रदर्शन का प्रारम्भ देवासुर-संग्राम में असुर और दानवों की पराजय के पश्चात् महेन्द्र विजयोत्सव के समय हुआ, और इस नाट्य-प्रदर्शन से असुर लोग अप्रसन्न हुए, और उन लोगों ने विघ्न करना आरम्भ कर दिया। परन्तु इन्द्र ने वहीं गड़े हुए अपने ध्वज को उठाकर उससे सारे विघ्नकारी असुरों को नष्ट कर दिया। इसी लिये उस ध्वज को 'जर्जर' नाम दिया, देवताओं ने (उससे असुरों के शरीर जर्जर हुए थे)। तभी से संस्कृत नाट्य-प्रदर्शन में 'जर्जर' नामक इन्द्रध्वज रंगशाला में स्थापित किया जाना शुरू हुआ।[1]

बौद्धकाल में यज्ञ आदि धार्मिक क्रियाओं तथा अन्य कर्मकांडों से नाटक और रंगमंच को निश्चित ही स्वतंत्र रूप मिला। बौद्ध-साहित्य में इस सत्य के अनेक प्रमाण मिलते हैं। बौद्ध-ग्रन्थों में भिक्षुओं के लिये नाटक का प्रदर्शन देखना निषिद्ध था। बुद्ध के शिष्य मौद्गल्यायन और कुवलया नामक अभिनेत्री की सम्बन्ध-कथा प्रसिद्ध ही है।

---

१. ब्राह्मण ग्रंथ में 'यूपः' (ध्वज, स्तंभ जो यज्ञ की समाप्ति का चिह्न हो) को प्रायः इन्द्र का वज्र कहा गया है---वज्रो यूपः---शत० ३-६-४-१६

संस्कृत नाटक की सर्वप्रथम रचनायें अश्वघोष की मानी जाती हैं। इनमें एक नाटक 'शारिपुत्र प्रकरण है, तथा दो रूपक भी हैं।' और 'गणिका' प्रकरण में विदूषक का प्रयोग भी है।

अश्वघोष से कालिदास तक आने के पूर्व 'भास' का नाम उल्लेखनीय है। भास के तेरह नाटकों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है :

१—रामायण नाटक—'प्रतिमा' तथा 'अभिषेक'

२—महाभारत नाटक—'पंचरात्र', 'मध्यम व्यायोग', 'दूत वाक्य', 'दूत घटोत्कक्ष', 'कर्णभार', 'उरुभंग' तथा 'बालचरित'।

३—अन्य नाटक —'स्वप्नवासवदत्तम्' 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' 'अविमारक' 'दरिद्र चारुदत्त'।

भास के नाटक मंचीय प्रदर्शन के लिये रचित थे, और इनमें सहज-सरल रंगमंच के सभी तत्त्व प्राप्त होते हैं। संस्कृत 'रंग' की मूल रूढ़ियाँ इनमें मिलती हैं। निश्चय ही कालिदास के लिये भास के नाटकों ने वह महत्त्वपूर्ण पीठिका तैयार की, जिसके ऊपर सहज ही कालिदास की नाट्यकला समाहृत हो सकी। भास के ये नाटक अपने 'नाट्य' और रंगशिल्प में ठीक उसी तरह थे, जैसे शेक्सपियर से पूर्व पश्चिम में 'मोरेलिटी' और 'मिरैकिल' नाटक थे–कलात्मक बोध से रहित, नाटकीय शिल्प-विधान से अप्रौढ़ तथा काव्य की उदात्त महिमा से हीन।

कालिदास ने इन अभावों की सफल पूर्ति अपने नाटकों द्वारा की। संस्कृत रंगमंच का सम्पूर्ण भावबोध, अर्थबोध इनके नाटकों में मिला। काव्य, अभिनय, रंग इन तीनों तत्त्वों का अद्भुत समन्वय और उत्कर्ष उनके 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक में मिला। कथा, नायक और रस संस्कृत नाटक के ये तीनों मूल तत्त्व—यहाँ अपने पूर्ण योग में प्रकट हुए। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के अतिरिक्त दो अन्य नाटक कालिदास के और हैं—'मालविकाग्निमित्र' और 'विक्रमोर्वशीय'।

कालिदास के बाद 'शूद्रक'—जिनका प्रसिद्ध प्रकरण है 'मृच्छकटिकम्', पूरे संस्कृत नाट्य-साहित्य और रंगमंच में यह एक ऐसी रचना है जिसमें संस्कृत रंगमंच की दोनों नाट्य-धर्मितायें, नाट्यधर्मी' और 'लोकधर्मी' अद्भुत सफलता के साथ एकाकार हैं। यही नहीं, इसमें संस्कृत के कई नाट्रूपों का सफल योग है। जैसे :

१—प्रणयकथात्मक—प्रकरण

२—धूर्त संकुल—भाण

३—हास्य मिश्रित—प्रहसन

रंग दृष्टि से 'मृच्छकटिकम्' बहुत ही उच्चकोटि की रचना है। इसमें व्याप्त

कथातत्त्व, घटनाचक्र, कार्य और उसकी गति और नाट्य-व्यापार, इस सत्य को पूर्णरूप से बताते हैं कि संस्कृत रंगमंच की प्रकृति और परम्परा क्या थी। कालिदास और शूद्रक, संस्कृत के ये दो नाटककार ऐसे हुए हैं, जिनकी कला में संस्कृत रंगमंच की समस्त पद्धतियाँ और धर्मितायें प्रतिष्ठित हुई हैं। विशेषकर शूद्रक ने संस्कृत नाट्य-परम्परा में क्रान्ति भी की। उसने प्रचलित राजन्यवर्ग, नायक-नायिका को छोड़कर मध्यवर्ग और यथार्थबोध के चरित्र लिये।

किन्तु शूद्रक की इस नाट्यपरम्परा का आगे विकास न हुआ। आगे कालिदास की ही नाट्यधारा का अनुसरण हुआ। वह भी कालिदास के नाट्य-सिद्धान्त पक्ष पर कृतिकारों ने ज्यादा आग्रह दिया। जिसका उत्तरोत्तर फल यह हुआ कि नाटक अपने सैद्धान्तिक पक्ष में पूर्णतः दोषहीन हुए, किन्तु उनमें से रंगमंच लुप्त होता गया।

नाटककार हर्ष के नाम से तीन रूपक प्राप्त हैं—'प्रियदर्शिका,' 'रत्नावली' और 'नागानन्द'। हर्ष की नाट्यकृतियों से प्रकट है कि इनमें काव्यतत्त्व अधिक प्रधान हैं, नाट्य-तत्त्व कम।

हर्ष के उपरान्त भट्टनारायण का 'वेणीसंहार' नाटक है। यह समय सातवीं शताब्दी है। इसी शताब्दी का महत्वपूर्ण नाटककार, विशाखदत्त है—जिसकी प्रसिद्ध रचना है 'मुद्राराक्षस'। इस शताब्दी का यह पहला महत्वपूर्ण नाटक है—जो मूलतः नाट्य-प्रदर्शन के लिये लिखा गया था। यही नहीं, इसने अपने समय की संकीर्ण नाट्य-परम्परा और सिद्धान्त के प्रति भी विद्रोह किया। इसने समाज की अपेक्षा राजनीति को अपना विषय बनाया तथा नाटक में संघर्ष-तत्त्व को मान्यता दी।

विशाखदत्त के बाद हम संस्कृत नाट्य-साहित्य के एक और शक्तिशाली उल्लेनीय नाटककार—भवभूति को पाते हैं, जिसने संस्कृत नाट्य-धारा में 'उत्तररामचरित' के माध्यम से सर्वथा एक नयी दृष्टि की अवतारणा की। नाटक के भीतर नाटक—और उसके माध्यम से मनुष्य-जीवन की गहन करुणा को रस-बोध देना। भवभूति के तीन नाटक हमें उपलब्ध हैं:

- मालतीमाधव
- महावीरचरित
- उत्तररामचरित

इन तीनों कृतियों में 'उत्तररामचरित' एक महत्वपूर्ण रचना है। इसका नाट्यशिल्प बहुत ही मौलिक और महत्वपूर्ण है। चरित्र-संगठन तो अपूर्व ढंग से शक्तिशाली है। इस नाटक के 'व्यापार' और 'कार्यपक्ष' पर संस्कृत काव्य की महती छाया है। फलतः इसका स्वरूप 'कथा', 'कार्य' की परम्परागत शिल्प से सर्वथा अलग है।

भवभूति के साथ ही संस्कृत नाटक का स्वर्णयुग समाप्त हो जाता है। वैसे भवभूति के बाद संस्कृत में सैकड़ों रूपक लिखे गये, किन्तु सभी सिर्फ नाम मात्र के लिये दृश्यकाव्य सिद्ध हो सके। अकेले रामचन्द्र (जैन साधु) ने लगभग सौ रूपकों की रचना की।

वस्तुतः इस अन्तिम चरण के लेखक रूढ़िबद्ध होकर मूलतः कवि सिद्ध हो सके। जीवित रंगमंच क्रिया-कलाप के अभाव के कारण नाटक की धारा समाप्त-सी हो गयी।

इसके अन्तिम चरण के नाटककार थे—राजशेखर (९५० ई०), जयदेव (१२५० ई०), इनकी क्रमशः कृतियाँ हैं 'बालरामायण' और 'प्रसन्नराघव'।

इस तरह मध्ययुग के पूर्वकाल में आते-आते संस्कृत नाटक की परम्परा समाप्त हो गयी। रंगमंचीय क्रिया-कलाप इससे भी पूर्व खत्म हो चुके थे।

वस्तुतः संस्कृत रंगमंच की अपनी अनेक सीमायें थीं। रंगमंच-बोध के स्तर से संस्कृत नाटकों की चेतना सामंत वर्ग और शास्त्रीयता के बीच से बही। इसका जीवन्त सम्बन्ध समाज और लोक से उतना नहीं रह सका। समाज और लोक से कट जाने का एक कारण संस्कृत और प्राकृत इन दोनों भाषाओं की दुरूहता भी थी।

शूद्रक और विशाखदत्त को छोड़कर कालिदासोत्तर काल के नाटककार नाटक में श्रव्य काव्य के तत्त्व भरने लगे थे।

इस उत्तर काल में नाटक का रंगमंच केवल रचयिता की बुद्धि तथा पाठक की कल्पना-शक्ति में ही सीमित हो गया।

बौद्धों और जैनों ने रंगमंच की बड़ी उपेक्षा और निन्दा की।

और अन्ततः मध्यकालीन भारत की राजनीतिक स्थिति बड़ी चिन्त्य हुई तथा इस्लामी शक्ति ने इसके ह्रास में काफी योग दिया।

ह्रास की वास्तविक स्थिति स्वयं संस्कृत नाटक और रंगमंच की विशेष प्रकृति और परम्परा में भी छिपी है। यह विशेष समाज-बोध और उसके सौंदर्य-बोध से सम्बन्धित होने के कारण क्रमशः विकसित समाज और सौंदर्यबोध के संग न चल सका। 'कार्य' तत्त्व की अपेक्षा काव्य-तत्त्व, यथार्थ की अपेक्षा आदर्श तत्त्व, उल्लास तत्त्व की अपेक्षा उपदेश तत्त्व, रंगमंच की अपेक्षा पाठ तत्त्व-संस्कृत नाटक की इन सीमाओं ने मूलरूप से इसके ह्रास में योग दिया।

## मध्यकालीन परम्परा

नवीं-दसवीं शताब्दी में संस्कृत नाटक और रंगमंच की शास्त्रीय परम्परा



कोणार्क का नट मन्दिर



वैष्णव रंगमंच : अंकिया नाट्य रूप; चौदहवीं शताब्दी

नष्ट हो जाने पर मध्ययुग में नाट्य-धारा का उद्भव, विकास और उसकी अभिव्यक्ति अनेक नाट्य-श्रोतों से हुई। ये श्रोत नाटकीय और रंगमंचीय भी थे तथा साथ ही इनका अधिक रूप अर्धनाटकीय तथा नाटकेतर भी था।

वस्तुतः इस मध्ययुगीन रंगमंच क्रिया-कलाप और नाट्य-परम्परा का सम्बन्ध संस्कृत रंगमंच तथा उसकी नाट्य-परम्परा से नहीं जोड़ा जा सकता। यह संस्कृत-परम्परा से सर्वथा स्वतन्त्र रूप में पनपा। इसका सबसे बड़ा कारण रहा है—सर्वथा दो स्वतन्त्र सांस्कृतिक युग। संस्कृत—हिन्दू युग, और मध्ययुग—मुसलमानी युग। दोनों की दो भाषाएँ, दो स्वतन्त्र युग-बोध। सन् एक हजार ईस्वी से पूर्व का युग 'हिन्दू धार्मिकता' का युग कहा जा सकता है, लेकिन सन् एक हजार ईस्वी से बाद का युग अपनी प्रकृति में 'लोकपरक' हो गया। इस लोक-परकता में भाषा और संस्कृति के स्तर पर प्राकृत और अपभ्रंश इसकी निधियां हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक भाषाओं के उद्भव की शक्ति भी।

मध्ययुगीन नाट्य-परम्परा को हम दो भागों में बाँटकर देख सकते हैं—

- लोकधर्मी नाट्य-परम्परा।
- धार्मिक नाट्य-परम्परा।

रंगमंच की परम्परा अबाध रहती है—जब हम इस सत्य को कहते हैं, तो हमारी दृष्टि में रंगमंच की यह लोकधर्मी परम्परा ही रहती है। वस्तुतः यह कभी नहीं रुकती—क्योंकि यह लोक-जीवन में व्याप्त रहती है। इसे न किसी राजन्य वर्ग का संरक्षण चाहिये, न पण्डितों का शास्त्र-सिद्धान्त। इसके विपरीत नाट्यधर्मी परम्परा तभी तक जीवित रहती है, जबतक उसके लिये उसका वह विशेष शास्त्रीय मंच अथवा नाट्य जीवित रहे।

मध्ययुग में लोकधर्मी नाट्य-परम्परा, जीवन, समाज, घर-गृहस्थी में, ब्याह-शादी, मंगल-उत्सव के अवसरों पर अनेक कर्मकांड के रूप में जीवित रही। कहीं गायन का रूप धारण करके, कहीं नर्तन के रूप में और कहीं सामूहिक उत्सव के रूप में। इसके अनेक रूप ऐसे भी थे, जो अर्धनाट्य और नाट्येतर भी कहे जा सकते हैं। इन रूपों पर मुसलमान शासकों की न कभी कुदृष्टि पड़ी, न ये ऐसे थे कि कोई भी इनकी विशिष्टता से चौंकता या इनका विरोध करता।

भक्ति-आन्दोलन अथवा भक्ति-उदय, मध्ययुगीन संस्कृति की सबसे बड़ी घटना है। इसी भक्ति ने पहली बार अपने उद्भव और लोकिप्रियता के लिए रंगमंच के इस रूप को हृदय से ग्रहण किया। इतिहास के अनेक ग्रंथ तथा स्पष्ट घटनायें इस बात की साक्षी हैं कि भक्ति-आन्दोलन के प्रमुख उन्नायकों ने इसी लोकधर्मी परम्परा का सहारा लिया। बंगाल में चैतन्य महाप्रभु नाटक

के प्रेरणा-स्रोत बने। बंगाल की 'यात्रा' इसका निश्चित स्वरूप बना। मिथिला में 'कीर्त्तनियाँ' और आसाम में 'अंकिया' नामक नाट्य-रूपों का प्रचलन हुआ। इन्हीं वैष्णवों की स्पर्धा में शैवों ने 'गम्भीरा' नामक विशिष्ट लोकनाट्य रूप का विकास किया। उत्तर भारत में यही 'गम्भीरा' आगे 'जोगीरा'[1] या 'जगीड़ा' के रूप में लोकप्रिय हुआ। दक्षिण के मलाबार में गीतगोविन्द के आधार से 'कृष्णनाट्य' का उदय हुआ। पौराणिक आख्यानों के आधार से अभिनयात्मक नृत्य नाट्य 'कथाकली' का प्रचार भी इसी काल का सत्य है।

इस लोकधर्मी नाट्य-परम्परा का उदय विभिन्न प्रान्तों में इसी प्रेरणा-श्रोत से हुआ, अनेक स्वरूपों में। महाराष्ट्र में 'तमाशा', गुजरात में 'भवाई', राजस्थान में 'माच' और उत्तर प्रदेश में 'स्वांग', 'भगति', 'नौटंकी' और 'बहु-रूपिया'।

इन नाट्य-रूपों के अतिरिक्त लोक-जीवन में व्याप्त 'ब्याह-शादी' और अनेक मंगल-उत्सव के समय भी अर्ध-नाटक के रूप में असंख्य स्वरूप विकसित हुए। उत्तर भारत में ब्याह के दिनों में नित्य रात में स्त्रियाँ 'नकटा' या 'नकटौरी' गाती हैं। नाटक से बिगड़कर बना हुआ यह नकटा शब्द उल्लेखनीय है। इसी तरह और भी अनेक रूप हैं, जो अध्ययन की दृष्टि से मनोरंजक हैं—रंगमंच की दृष्टि से महत्त्वहीन।

## धार्मिक नाट्य-परम्परा

मध्ययुगीन धार्मिक नाट्य-परम्परा में मूल रूप से 'लीला' रूप हमारे सामने है। 'लीला' के पीछे भक्ति से ज्यादा, धर्म है।

इसके अन्तर्गत 'रासलीला' और 'रामलीला' यही दो प्रमुख रूप विकसित और उदित हुए। 'रासलीला' की उदयभूमि व्रज है—मथुरा, वृन्दावन तथा इसके मूलाधार हैं, कृष्ण-राधा तथा उनके चरित। 'रामलीला' की रंगभूमि है अवध, तथा इसके मूलाधार हैं राम, और उनकी चरितकथा : रामायण। इन दोनों रूपों में रामलीला अपेक्षाकृत बड़े लोक-जीवन, व्यापक समाज का दर्शन है। इसका रंगमंच विस्तृत और विराट् है—तथा इसमें रंगमंच के निम्नलिखित स्वरूप मिलते हैं :

---

१. एक लड़का लड़की बनकर नाचता है। दो ओर, दस-दस गायकों का क्रम से गायन होता है—स्पर्धा-परक गायन—उत्तर-प्रत्युत्तर, प्रश्न और चुनौती के रूप में। जनता चारों ओर खड़ी होकर इसे देखती-सुनती है।

(१) विभिन्न लीलाओं को विभिन्न देश, स्थान तथा स्थिति में करना—'चलित रंगमंच'।

(२) एक ओर राम का मंच दूसरी ओर रावण का मंच—अर्थात् एक ओर अयोध्या, पंचवटी आदि दूसरी ओर लंका, बहुत बड़े मैदान में यह 'मुक्त आकाशी रंगमंच'।

(३) विभिन्न चौकियों पर राम-चरित के विभिन्न दृश्यों को अभिनीति करके उसे रामलीला चौकी के रूप में निकालना—'ट्रैवलो' के रूप में—यह है 'यात्रा रंगमंच'।

रासलीला का रंगमंच इसके विपरीत एक रूपवादी स्वरूप है। घिरे हुए स्थान पर इसका प्रदर्शन। नृत्य और गायन से पूर्ण। प्रकृति से कोमल और शृंगारमय।

पूरी मध्ययुगीन नाट्य-धारा और उसकी रंगमंच-परम्परा इतिहास के रूप में चाहे जितनी मनोरंजक हो, किन्तु जीवित महत्वपूर्ण रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में इसका कोई विशेष महत्व नहीं है। इस पूरे युग में न हमें कोई एक महत्वपूर्ण नाट्य-कृति मिलती है न रंगमंच का कोई स्तरीय रूप। इस पूरे युग का महत्व भक्ति-काव्य, नृत्य, चित्र आदि की उपलब्धियों में देखा जायगा, नाटक और रंगमंच के स्तर से नहीं।

वस्तुतः पूरे मध्ययुगीन जीवन पर जहाँ दया, ग्लानि, वैराग्य, माया की भावना, तथा पर्दा और मुसलमानी संस्कृति की छाप रही हो, वहाँ नाटक और रंगमंच की जीवित महत्वपूर्ण विद्या का प्रश्न ही नहीं उठता। भावना, विश्वास, चेतना और सौन्दर्य-बोध—इन सभी दृष्टियों से वस्तुतः मध्ययुग रंगमंच और नाटक के विरुद्ध पड़ता है।

●



पट्टा कुणिता
मैसूर के शिव मन्दिर में प्रचलित पूजा-नाट्य। 'जर्जर' नामक
इन्द्र-ध्वज पूजा-समारोह की परम्परा

दूसरा भाग

# पाश्चात्य रंगमंच

## कृतित्व पक्ष (ड्रामा)

पाश्चात्य रंगमंच का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम यूनान देश में हुआ जिसे इतिहासकारों ने 'थियेटर आफ डायोनिसस' की संज्ञा दी है। यूनानियों को प्रकृति में अपार श्रद्धा थी, क्योंकि उसी में से उन्हें महान् शक्ति का अनुभव हुआ था। विशेषकर प्रकृति के परिवर्तनशील दृश्यों को देखकर तथा उसके अटल नियमों को अनुभूतकर यूनानियों ने प्रकृति में एक दैवी शक्ति की कल्पना की, जो मानव को सुख-संतोष और समृद्धि देने वाली थी। उसी शक्तिमय कल्पना के सहारे स्वभावतः यूनानियों ने अपने आदि देवता के रूप-निर्माण और उसकी पूजा-आराधना को निश्चित किया। सर्वप्रथम उस दैवी-शक्ति के रूप में 'डायोनिसस' तथा 'बैकस' देवता का अवतरण यूनानी जीवन में हुआ। कहा जाता है कि 'डायोनिसस' देवता केवल समाज-पोषक ही शक्ति-देव न थे, वरन् वह प्रकृति के विशाल तथा वैभवपूर्ण जीवन के भी प्रतीक थे। वही प्रकृति को जीवन-दान देते, वही प्रकृति की उदात्त परिवर्तनशीलता की आदि शक्ति थे। फलतः वही समग्र जीवन के दाता, रक्षक और सुन्दरता के मूल थे। अतएव यूनानियों ने बड़े ही जीवनपूर्ण और भव्य ढंग से अपने इस 'डायोनिसस' की पूजा की।

## डायोनिसस का थियेटर

डायोनिसस के पूजन-आराधन मुख्यतः बंसत के दिनों में होते थे, जो निश्चय ही यूनानियों के जीवन के लिये अपूर्व आनन्द और उल्लास का प्रतीक होता था। शारीरिक आनन्द और स्फूर्ति देने वाला, शोक-चिन्ता को हरने वाला, ऐसा अद्‌भुत देवता हो तो जीवन में उसके प्रति इतनी श्रद्धा और आह्लाद का भाव क्यों न उत्पन्न हो ?

'डायोनिसस' की इस पूजा-पद्धति में पश्चिम के आदि रंगमंच का सूत्रपात हुआ। कैसे ? इसकी पूजा-प्रक्रिया कैसी थी तब ? 'डायोनिसस' की पूजा-आराधना में पहले-पहल एक प्रमुख गायक यूनानियों की टोलियों के सामने आता और 'डायोनिसस' की प्रशंसा में गीत गाता, फिर नृत्य द्वारा उस देवता को अपनी श्रद्धांजली अर्पित करता। साथ ही वह दूसरे देवता ('बैकस' अथवा जो शराब और विशुद्ध भोग के देवता माने जाते थे) सुरादेव की भी प्रशंसा में गीत गाता और उसके लिये अपने नृत्य-भाव अर्पित करता। इन नृत्य-गीतों के साथ ही

साथ धीरे-धीरे प्रमुख गायक के गायन तथा नर्तन में तन्मय होकर दर्शक लोग उसमें सहज ही योग देने लगे। आगे फिर गायकों की टोली एक से दो और दो से चार-छः हो गयी। आगे चलकर यही नृत्य-गायन की टोली, यूनानी जीवन (रंगमंच) में 'कोरस' अथवा 'सहगायन' कहलाई।

'ड्रामा' का जन्म अपने बीज रूप में 'डायोनिसस' की पूजा-प्रतिष्ठा में गाये गये इसी 'कोरस' अथवा 'सहगायन' के मध्य से हुआ। 'ट्रेजडी' का आदि अर्थ है—'गोट साँग' क्योंकि उस पूजन-समारोह में बकरे की बलि भी दी जाती थी।

छठी शताब्दी ई० पू० में यूनान के 'थेस्पिस' नामक एक व्यक्ति ने 'कोरस' में एक परिवर्तन किया—कोरस में वार्तालाप का प्रयोग। आगे चलकर इसमें तीसरा तत्त्व कथा का मिलाया गया—फिर देवताओं का स्थान कालान्तर में श्रेष्ठ वीरों तथा नायकों ने ले लिया। इस तरह 'ड्रामा' की सम्पूर्ण स्थिति पूरी दिख गई। शेष रह गया—भौतिक मंच, जिस पर यह 'ड्रामा' प्रस्तुत हो।

इसके लिये प्रायः ई० पूर्व पाँच सौ में सर्वप्रथम 'थियेटर आफ डायोनिसस' का निर्माण हुआ। यह एथेन्स के 'एक्रोपोलिस' नामक पर्वत के चरणों में स्थित था। यह अर्धवृत्ताकार था और ऊपर से खुला था। दर्शकों के बैठने के लिये पंक्तियाँ एक के ऊपर एक चट्टानें काटकर बनायी गयी थीं। स्वभावत: मंच भी पत्थर का बना था और उसके पीछे एक कलात्मक ऊँची दीवार थी। दर्शकों की संख्या पचीस से तीस हज़ार तक होती थी। मुख्य मंच के ठीक सामने एक नीचा अर्द्धवृत्ताकार छोटा-सा मंच और होता था, जिसे 'आर्केस्ट्रा' कहते थे। मंच के मध्म में 'डायोनिसस' की वेदी होती थी, जिसके चारों ओर नृत्य होते थे। इस वेदी के पास की सीटें संगमरमर की होती थीं, जो पुजारियों तथा मजिस्ट्रेटों के लिये सुरक्षित थीं। वेदी के ठीक नीचे 'डायोनिसस' का पुजारी बैठता था। उसके दायीं ओर सूर्य देवता 'एपोलो' का पुजारी और बायीं ओर नगर देवता 'ज्यूस पोलियस' का आसन होता था। नृत्य और संगीत के इस पूजन-आराधन समारोह में 'थियेटर आफ डायोनिसस' के मंच पर यूनानी देवताओं और राजन्य वर्ग के महापुरुषों का जीवन-चरित दिखाया जाता था।

'थियेटर आफ डायोनिसस' की इस रंग-प्रतिष्ठा में सर्व प्रथम 'ड्रामा' का उदय हुआ। अतः 'ड्रामा' की कला तथा उसके सिद्धान्त भी सर्वप्रथम वहीं सूत्रबद्ध हुए।

ई० पू० पाँच सौ से लेकर चार सौ ई० पू० तक का सौ वर्षों का समय यूनानी ड्रामा के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ, क्योंकि प्राचीन यूनान के तीन महान् नाटककार—एस्कीलस, सोफोक्लीज और यूरोपाइडीज इसी काल में हुए। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम 'अरस्तू' ने लगभग ३३० ई० पू० में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पोइटिक्स' की रचना की। इसने इस महान् पुस्तक में

काव्य की परिभाषा और कला-सिद्धान्तों को सूत्र बद्ध किया। इसी प्रसंग में अरस्तू ने 'ट्रेजडी'—(ड्रामा) को काव्य-कला का उत्कृष्ट रूप माना और इसी के आधार से उसने 'ड्रामा' के सिद्धान्तों का विवेचन किया।

## ड्रामा क्या है ?

अरस्तू ने 'ड्रामा' को काव्य का प्रमुख भेद माना। यद्यपि उसने 'ड्रामा' की कोई स्वतन्त्र परिभाषा नहीं की, किन्तु कला और काव्य के सिद्धान्त-विवेचन में उसके कुछ ऐसे विवेचनात्मक संकेत मिलते हैं, जिनके आधार पर 'ड्रामा' के लक्षण प्रस्तुत किये जा सकते हैं :

(१) 'एक तीसरा भेद और भी है—इस विषय की अनुकरण रीति का, क्योंकि माध्यम एक हो और विषय भी एक हो, फिर भी कवि या तो समाख्यान द्वारा अनुकरण कर सकता है— अथवा अपने सभी पात्रों को जीवित-जागृत और चलते-फिरते प्रस्तुत कर सकता है।'

(२) 'तभी कुछ लोगों का कहना है कि इन काव्यों को 'ड्रामा' इसलिये कहा जाता है कि इनमें कार्य-व्यापार का निदर्शन रहता है'।[१]

काव्यशास्त्र (पोइटिक्स) पृष्ठ ११—१२

उक्त उद्धरणों के आधार पर यह निष्कर्ष 'ड्रामा' के विषय में सहज ही निकाला जा सकता है कि ड्रामा काव्य का वह महत्वपूर्ण रूप है जिसमें कार्य-व्यापार का प्रदर्शन रहता है। और 'ड्रामा' की प्रकृति काव्य के स्वरूप की ही भाँति अनुकरण-सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित है।

इस प्रकार यह 'ड्रामा' के अर्थ और परिभाषा की दिशा में पहला सिद्धान्त है।

## अनुकरण-सिद्धान्त (The Theory of Imitation)

अरस्तू के काव्यशास्त्र में 'अनुकरण' से अभिप्राय है साहित्य में जीवन का वस्तुपरक अंकन, जिसे हम अपनी भाषा में जीवन का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण कह सकते हैं। 'अनुकरण' सिद्धान्त को 'सिसरो' ने जिस अर्थ में ग्रहण किया है—और जिससे आज तक के सभी नाट्याचार्य सहमत हैं, वह है 'A copy of life, a mirror of custom, a reflection of truth'.

अतएव अनुकरण के इस सिद्धान्त के अनुसार ड्रामा जीवन का यथार्थ-

---

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र, अनुवादक, डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ६४

निष्ठ चित्र है, जिसके अनुसार ड्रामा-लेखक को ऐसी कृति की रचना करनी चाहिये, जो मंच पर प्रस्तुत होकर ऐसे लगे, जैसे वह जीवन का सच्चा प्रतिरूप है। उसके कथोपकथन ऐसे हों जो दर्शक के लिये ऐसे सिद्ध हों कि मानो वह सीधे जीवन से ग्रहण किये गये हैं। इस प्रकार ड्रामा का सबसे सुन्दर रूप वह है जो जीवन के अनुरूप ही दर्शक को अपना रूप और प्रभाव दिखा सके। पर क्या जीवन का ऐसा सच्चा अनुकरण किसी भी लेखक के लिये संभव है? जीवन अपनी विराट् गरिमा और आश्चर्यजनक सूक्ष्मता में विचित्र ही है, जिसे सम्पूर्ण रूप में कृतिकार द्वारा वैसा-का-वैसा ही ग्रहण कर पाना और उससे भी कठिन कार्य उसे उसी तरह अभिव्यक्त कर पाना निश्चय ही असंभव है।

वस्तुतः अनुकरण के इस सिद्धान्त पर महान् ड्रामा लिखे भी नहीं गये, न किसी महत्वपूर्ण ड्रामा-लेखक ने इसे इस तरह स्वीकार ही किया। 'ड्रामा' को जहाँ जीवन से आगे कला की भूमिका दी गयी, वहाँ ड्रामा-लेखन की प्रेरणा में यथार्थ जीवन से आवश्यक सामग्री के चुनाव की बात बड़े लेखकों ने उठायी है। इस संदर्भ में इस चुनाव से भी अधिक मूल्यवान् तत्त्व हैं, यथार्थ की दिशा में लेखक की व्यंजना-शक्ति, जिसके आधार से ड्रामा में व्यवहृत साधारण से साधारण घटना, कार्यव्यापार तत्त्व से लेखक अपनी कृति में मानव जीवन के चिरन्तन रहस्य और मानव-चरित्र के गूढ़ रहस्य के प्रति प्रकाश फैला दे।

ड्रामा के अर्थ में 'अनुकरण' की परम यथार्थवादी दृष्टि अरस्तू की कदापि नहीं थी—इससे प्रायः सभी आलोचक-विचारक सहमत हैं। अरस्तू ने 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग प्लेटो आदि की भांति स्थूल—यथावत प्रतिकृति के अर्थ में नहीं किया। बल्कि अरस्तू ने अनुकरण का अर्थ लिया है जैसा यथार्थ होता है वैसा नहीं, बल्कि जैसा वह इन्द्रियों को प्रतीत होता है। इस विकास में अरस्तू के आधुनिक टीकाकार 'पाट्स' ने अनुकरण का अर्थ इस भाव-स्तर से बहुत ही स्पष्ट कर दिया है, जो निश्चय ही अरस्तू के तद्विषयक विचार को सही अर्थों में प्रकट करता है—'अपने पूर्ण अर्थ में अनुकरण का आशय है ऐसे प्रभाव का उत्पादन, जो किसी स्थिति, अनुभूति अथवा व्यक्ति के शुद्ध प्रकृत रूप से उत्पन्न होता है।' पाट्स के अनुसार वास्तव में 'अनुकरण' का अर्थ है—आत्माभिव्यंजन से भिन्न, जीवन की अनुभूति का पुनर्सृजन।

## इच्छाशक्ति का द्वन्द्व

'ड्रामा' को जब उसके अविभाज्य अंग थियेटर के परिप्रेक्ष्य में रखकर

उसकी परिभाषा ढूँढ़ी जाने लगी तो बाद के विद्वानों ने कहा कि 'ड्रामा' में थियेटर—'विल'—इच्छा-शक्ति को कार्यरूप में प्रस्तुत होने का उद्देश्य चाहता है। इस प्रसंग में ड्रामा के प्रसिद्ध आचार्य 'विलियम आर्चर' का यह कथन बहुत प्रसिद्ध है :

"Drama is a representation of the will of man in conflict with the mysterious powers or natural forces which limit and belittle us. It is one of us thrown living upon the stage there to struggle against fatality, against social law, against one of his fellow mortals, against him self if need be, against the ambitions, the interests, the prejudices, the folly, the malevolence of those around him ?"

उक्त कथन जितना 'ड्रामा' के विषय में लागू है, निश्चय ही वह उतना साहित्य के अन्य प्रकार—उपन्यास, कहानी आदि पर भी लागू है। वस्तुतः संघर्ष, द्वन्द्व-प्रतिद्वन्द्व तत्त्व पश्चिम के सार्वभौम सत्य हैं। इस संदर्भ में 'ड्रामा' की अपनी विशेष भूमिका और परिभाषा क्या है, यह विचारणीय है। ड्रामा—एक कला-प्रकार, एक काव्य-प्रकार, एक साहित्य-विधा का अपना निजत्व क्या है ? जिसकी समानता कोई कला, कोई साहित्यकार नहीं कर सकता—यह जानना, 'ड्रामा' की प्रकृति का अन्वेषण है !

## ड्रामा की मौलिक विशेषता

### दर्शक-सापेक्ष्य

'ड्रामा' अपनी प्रकृति और विद्या विशेष में सबसे अलग यहाँ यह है कि ड्रामा में दर्शक सत्य-सनातन से जुड़ा हुआ है। बिना दर्शक के किसी ड्रामा की कभी कल्पना और परिकल्पना की ही नहीं जा सकती। पर यहाँ विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि ड्रामा इस आधार से मात्र कोई ऐसी कला नहीं है कि जिससे कोई कहानी अथवा घटना दर्शक से कही जाय—अपितु 'ड्रामा' के मध्य में एक ऐसी कथा-कहानी अवश्य है जिसकी व्याख्या—अर्थबोध, मंच पर अभिनेताओं द्वारा दर्शकों को कराया जाता है। अतएव पहली स्थापना का विकास अब इस तरह हुआ कि ड्रामा की कल्पना अथवा उसके अस्तित्व का बोध दर्शक को कथा की व्याख्या देने वाले अभिनेता के बिना हो ही नहीं

1. Play making (1926) p. 23.

सकता। स्पष्ट है, ड्रामा के इस धरातल में दर्शक और अभिनेता दो सत्य मिले हैं—और दोनों विशुद्ध मानव-सत्य हैं—बल्कि मानव हैं। अतः जो कुछ ड्रामा से इन्हें व्याख्या के लिये अपेक्षित है—वह है मानव-तत्त्व। इसलिये 'ड्रेमेटिस्ट' के लिये यह ध्यान में रखना सदा-सर्वदा आवश्यक है कि उसका ड्रामा अभिनेताओं द्वारा मंच पर दर्शक के लिये प्रस्तुत होने के लिये कृतित्व की संज्ञा पा रहा है, जो दोनों स्तरों से एक विशुद्ध मानव-सत्य है।

इन तत्त्वों के फलस्वरूप ड्रामा साहित्य के अन्य प्रकारों की अपेक्षा स्वभावतः अपने अस्तित्व के चारों ओर अपनी सीमाओं की दीवार खींच लेता है। इस दिशा में ड्रामा की पहली सीमा है—'समय' की। क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध है दर्शक-वर्ग से—जो कुछ समय के भीतर ही 'ड्रामा' देख चुकना स्वीकार करेगा। यही स्थिति अभिनेता की भी है—वह मंच पर उतनी ही देर तक अभिनय कर सकता है, वह उतना ही अभिनय कर सकता है जितना कि मनुष्य से संभव होगा। वह अपनी मानवीय परिस्थिति के परे नहीं जा सकता। इस मानव-सत्य को 'बर्नार्डशा' ने बहुत ही मनोरंजक रूप में प्रस्तुत किया है—'ड्रामा' लिखते समय में ड्रामा के सिद्धान्तों से नहीं अनुशासित होता—ड्रामा लिखने के नियमों को भी मैं नहीं जानता, बल्कि वे नियम और सिद्धान्त असंख्य कारणों से युक्त मुझपर स्वयं लागू हो जाते हैं: उनके रंग-अनुष्ठान की भौतिक सीमाओं तथा नियमों से, उनके उपस्थापन में आग लगने तथा अन्य दुर्घटनाओं की स्थिति में म्युनिसिपैलिटी द्वारा बनाये गये कानून के डरों से, अभिनय-कला की सीमाओं से, दर्शकों द्वारा ड्रामा के द्वारा देख-सुनकर उसे समझने की सीमा से—(इनके अतिरिक्त) मुझे अपनी पाकेट का भी ध्यान रखना होगा, ड्रामा कम्पनी के मैनेजर की पाकेट का भी ध्यान रखना होगा, (साथ ही) अभिनेता और दर्शकों की पाकेट का भी ध्यान, इसके अलावा यह भी सोचना होगा कि दर्शक कितनी देर तक के लिये जलपान और विश्राम के बिना ड्रामा देखने के लिये बैठ सकता है।—व्यावहारिक सत्य के ये अनेक पक्ष ड्रामा-लेखन को प्रभावित करते हैं।'[1]

साहित्य का यह अनूठा प्रकार 'ड्रामा,' साहित्य के अनेक प्रकारों से कितना भिन्न है! रंगमंचगत इतनी सीमाओं, इतने विचारों और जीवनगत इतनी मान्यताओं से अनुशासित होता है। कथा और कविता की मर्यादाओं और उनकी स्वतंत्र शैली से यह 'ड्रामा' कितना भिन्न है। ड्रामा-लेखक शब्दों से अपनी रचना करता है—किन्तु वे शब्द ऐसे जो ड्रामा के पात्रों के मुँह में रखकर उजागर होते हैं, स्वतंत्र रूप से नहीं। सीधे ड्रामा-लेखक की ओर से भी वे शब्द

१. New york Times, June 2, 1912.

नहीं आ सकते। और पात्रों के मुँह में भी वे शब्द इस मान्यता से प्रतिष्ठित किये जाते हैं कि वे अभिनेताओं द्वारा मंच पर दर्शकों को सम्प्रेषित करने योग्य हों।

## सत्याभास का प्रश्न

'ड्रामा' जीवन का दर्पण है—यह सत्य हमारे सामने एक स्वाभाविक प्रश्न खड़ा करता है—क्या ड्रामा का रंग-अनुष्ठान दर्शक के लिये ऐसा शक्तिशाली सत्याभास पैदा करता है कि वह यह विश्वास करने लगे कि जो कुछ वह मंच पर प्रस्तुत होते हुए देख रहा है, वह साक्षात् जीवन है? यह प्रश्न ड्रामा-लेखक से अधिक दर्शक के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखता है—विशेषकर दर्शक के मन से, उसकी ग्रहण-शक्ति से और सबसे अधिक उसकी कल्पना अथवा सर्जन-शक्ति से। इस संदर्भ में दर्शकवर्ग में कई कोटियाँ हो सकती हैं, किन्तु सत्याभास का सत्य 'ड्रामा' और उसके रंग-अनुष्ठान का परम शाश्वत पक्ष है।

## ड्रामा का मूलाधार

'ड्रामा' के विषय में अब तक इतने विचार के बाद ड्रामा के मूलाधार की ओर सहज ही संकेत किया जा सकता है। 'ड्रामा' की एक परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि ड्रामा जीवन के विषय में विचार व्यक्त करने की एक कला है। और इस कला का रूप भी ऐसा कि जिसके विचारों को व्यावहारिक अभिव्यक्ति देने के लिये अभिनेता रंगशाला में बैठे हुए दर्शकगण के सामने दृश्यरूप में उसे उपस्थित करता है।

निश्चत ही 'ड्रामा' की यह परिभाषा अपने बाह्य तत्त्वों के ही साथ अधिक है, जिससे कि इसके रूप और प्रकृति में साहित्य और कला के अन्य प्रकारों से उसकी विभिन्नता सिद्ध है।

पर ड्रामा केवल बाह्य तत्त्व नहीं है। न यह केवल शिल्प-चमत्कार ही है। इसकी अपनी अपूर्व शक्तिशाली आन्तरिकता है। ड्रामा की यह आन्तरिकता क्या है? इसकी आन्तरिक प्रकृति, परिभाषा और शक्ति-सम्पन्नता—!

## 'ड्रामा और ड्रैमेटिक'

'ड्रामा' और 'ड्रैमेटिक' ये दोनों शब्द प्रायः जीवन-क्षेत्र के व्यवहारों में प्रयुक्त होते हैं। अप्रत्याशित रूप से किसी घटना का घट जाना, दो शत्रुओं का सहसा मिलन हो जाना, ऐसे क्षणों पर अक्सर लोगों के मुँह से यह निकल पड़ता है कि 'अमुक का अंत बड़ा ड्रैमेटिक' रहा; 'अमुक स्थान पर आज एक 'ड्रैमेटिक' घटना घटी।' इस प्रकार 'ड्रैमेटिक' के भावबोध में 'अप्रत्याशित तत्त्व,' 'घटना,' 'संयोग,' 'आकस्मिक 'प्रकम्पन' (शॉक), 'क्षोभ' और 'मानसिक धक्का' आदि के प्रभाव मिले रहते हैं। इसका प्रत्यक्ष कारण है—दर्शक-वर्ग, जिसको दिखाने के लिये, जिसके मनोरंजन और उसकी स्वाभाविक मानसिक भूख की परितृप्ति के लिये 'ड्रामा' रचे जाते हैं। इसके उदाहरण में प्राचीन अथवा आधुनिक काल की कोई भी ड्रामा की रचना ली जा सकती है। अरस्तू ने स्वयं अपने काव्य-शास्त्र में 'अभिज्ञान' (Recognitions & discoveries) के धरातल से इस 'ड्रैमेटिक' भावबोध के ऊपर काफी विस्तार में प्रकाश डाला है।

"अभिज्ञान का सबसे उत्कृष्ट रूप वह है जहाँ वह स्थिति विपर्यय के साथ ही घटित होती है—जैसे 'ओडिपस' में—ऐसा अभिज्ञान विपर्यय के साथ मिलकर या तो करुणा जगायेगा या त्रास, और हमारी परिभाषा के अनुसार ऐसे ही प्रभावों के उत्पादक कार्य-व्यापारों का त्रासदी में चित्रण किया जाता है।"[1]

इस ड्रैमेटिक तत्त्व से ग्रीक ड्रामा और शेक्सपियर के दुखान्तकी भरे पड़े हैं। शेक्सपियर का 'हैमलेट' इस 'ड्रैमेटिक' का सुन्दरतम उदाहरण है। हैमलेट के पिता का मृत रूप में सहसा प्रकट होना, हैमलेट का आगे पागलपन की स्थिति में सहसा पहुँच जाना, क्लाडियस के धोखे में अप्रत्याशित रूप में 'प्लोनियस' की हत्या कर देना, आदि आकस्मिक प्रकम्पन, संक्षोभ और मानसिक धक्के के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। 'ड्रैमेटिक' का यह सत्य ड्रामा के अन्तर्गत केवल दुखान्तकी में ही नहीं है, वरन् सुखान्तकी में भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। 'आस्कर वाइल्ड' का 'दी इम्पारटेन्स आफ बीइंग अर्नेस्ट' इसका चिरस्मरणीय उदाहरण है।

किन्तु 'ड्रैमेटिक' के इस बाह्य भाव को 'ड्रामा' की रचना में आन्तरिक अर्थ में देखना और उसका सर्वथा प्रयोग करना 'ड्रामा' को महत्त्वपूर्ण बनाना है। जो बाहर से अप्रत्याशित घटना है, कार्य-व्यवहार है, उसके अन्तस्तल में ड्रामा अपनी रागात्मक और काव्यात्मक दिशा में निरंतर विकसित होता दीख पड़े, यह ड्रामा की प्रकृति का बहुत बड़ा तत्त्व है। साथ ही ये 'ड्रैमेटिक' तत्त्व समूचे ड्रामा

---

१. अरस्तू का काव्य-शास्त्र : अनुवादक, डॉ० नगेन्द्र : पृष्ठ ३०

में कथानक, चरित्र और छन्द के धरातल से किस प्रकार उसके विचार-तत्त्व, मानव-तत्त्व से गुंथकर रचित हुए हैं कि ड्रामा अपने एकान्त प्रभाव में चिर-स्मरणीय हो, यह ड्रामा की अपनी विशेष कला है।

ड्रामा की परिकल्पना प्रस्तुतिकरण-स्तर से जिस प्रकार बिना अभिनेता और दर्शक के असंभव है, ठीक उसी प्रकार 'ड्रामा' की रचना अपने सृजन के स्तर से, बिना जिज्ञासापूर्ण घटना, संवेद्य स्थिति के, कलात्मक चयन के कठिन है— ऐसी घटनाएँ, स्थितियाँ, कार्य-व्यापार जो अपनी मौलिकता, अप्रत्याशितता, और अपने अनोखेपन तथा निरालेपन से हमें विमोहित कर लें।

## धर्मितायें

ड्रामा एक कला है, स्वाभावत : अन्य कलाओं की भाँति इसकी अपनी कुछ धर्मितायें हैं, जिनसे इसको अपना सहज व्यक्तित्व प्राप्त होता है। ये धर्मितायें स्वभावतः 'ड्रामा' में प्राचीन काल से आज तक विद्यमान हैं। अरस्तू ने समग्र कला की परिभाषा देते हुए जब कहा कि "समस्त कला अनुकरण मात्र है" यह कला के विषय में उसकी व्याख्या, अवधारणा थी—जिससे असंतुष्ट होकर यूनान के एक दूसरे आलोचक और दार्शनिक प्लेटो ने इस अवधारणा की कटु आलोचना की। "जब कला अनुकरण मात्र है तो वह झूठ और मिथ्यावाद का प्रचार करती है। अतएव कलाकारों को सभ्य समाज से दूर रहना चाहिये।" किन्तु जब उसने कला की धर्मिताओं के विषय में मत देकर अपनी अवधारणा को निश्चित किया तो कला की भूमिका सहसा उन्नत हो गयी—"कला में सत्य का स्थान है, परन्तु यह सत्य इतिहास की घटनाओं के समान नहीं, वरन उसके कल्पना-जगत की सत्यता है।"

इससे यह भाव स्पष्ट हुआ कि ड्रामा की कला एक कल्पनापूर्ण अनुकरण है, जो जीवन के अंगों का कलात्मक चित्रण करती है। इस केन्द्रीय भाव में 'ड्रामा' जीवन का सत्याभासी प्रतिबिम्ब प्रदर्शित करता है और "इस प्रदर्शन में सीमित तथा केन्द्रीभूत इच्छा-शक्तियों के द्वन्द्व में ड्रामा की आत्मा का प्रस्फुटन होता है।"

इसके अनन्तर 'ड्रामा' की मूल धर्मिताओं का प्रश्न आता है कि कला-स्तर से ड्रामा की धर्मितायें क्या हैं ?

## संकलनत्रय

'ड्रामा' की शास्त्रीय और व्यावहारिक आलोचना में प्राचीन काल से आज-तक काल (टाइम), स्थान (प्लेस), और कार्य (ऐक्शन) के संकलनों की विवेचना होती आयी है। अरस्तू के 'पोइटिक्स' में इन तीन संकलनों की चर्चा मिलती है। महाकाव्य और दुखान्तकी (ड्रामा) के अंतर को बताते हुए अरस्तू ने कहा है कि दुखान्तकी में यथासम्भव घटना को एक दिवस अथवा अपेक्षतः कुछ अधिक काल तक सीमित कर देने का प्रयास देखने में आता है, जबकि महाकाव्य में समय का ऐसा कोई बंधन नहीं होता।[1] इस स्थापना के अतिरिक्त अरस्तू ने 'कार्य' में भी अन्विति का संकेत किया है। उसने बताया है कि 'ड्रामा' में कार्य की यह अन्विति सम्पूर्ण रूप से ड्रामा की आत्मा में परिव्याप्त ढंग से होनी चाहिये, यांत्रिक और निष्प्राण रूप से नहीं। जैसा कि आत्मकथा या जीवन-चरित लिखने में होता है, एक व्यक्ति के जीवन-आधार के केन्द्रबिन्दु से कार्यों की श्रृंखला बनाते चलना और मात्र उसके जीवन को कथानक का आधार बना देना।

वस्तुतः ग्रीक थियेटर में ड्रामा की व्यापक अन्विति के स्तर पर उनका 'कोरस' तत्त्व आदि से अंत तक एक महत्त्वपूर्ण कार्य करता था, जिससे कि उनकी सारी स्थापना, व्यापक, विविधतापूर्ण होती हुई भी 'कोरस' की मूल धुरी से वंचित रहती थी। पर आगे के 'ड्रामों' में, विशेषकर आधुनिक ड्रामा अथवा थियेटर में संकलनत्रय का तत्त्व, साधन और पालन दोनों दृष्टियों से कठिनतर होता गया है।

ग्रीक थियेटर में 'कोरस' तत्त्व के कारण कार्य, स्थान और काल तीनों की अन्विति सहज ही होती चलती थी। फिर भी अरस्तू ने ड्रामा के कलात्मक स्तर पर तीनों की अन्विति के अन्तर्गत केवल 'कार्य-संकलन' को ही अनिवार्य, आवश्यक ठहराया है। इस प्रसंग में अरस्तू के अनुसार कार्य-संकलन मुख्यतः दो रूपों में सम्पन्न होता है।

○ ड्रामा की घटनाओं में कार्य-कारण सम्बन्ध की स्थापना में।

○ ड्रामा में सब घटनायें अनिवार्यतः किसी एक लक्ष्य की ओर उन्मुख हों।

आगे फ्रांस के शिष्टवादियों ने संकलन-त्रय को एक शास्त्रीय रूप देकर उसे

---

1. Poetics, chapter. v.

'ड्रामा' के लिये एक अनिवार्य सत्य मान लिया। उनके मतानुसार संकलनत्रय की स्थिति इस प्रकार है कि ड्रामा में एक मूल द्वन्द्व, एक मूल घटना और इनके फलस्वरूप एक प्रमुख कथानक रहेगा। यदि 'ड्रामा' में अन्य छोटे-छोटे कार्य अथवा घटनायें आती हैं, तो उनका चयन और नियोजन इस प्रकार से होगा कि वे सब मूल घटना, मूल द्वन्द्व और मूल कथानक के अविभाज्य अंग सिद्ध हों। स्थान के प्रसंग में—सारी घटनायें 'ड्रामा' में एक ही जगह संगठित हों। और सारी घटनायें और कार्य-व्यापार एक ही दिन में संयोजित हों।

संकलन-त्रय के स्तर से उक्त नियमों में बँधकर किसी भी बड़े ड्रामा-लेखक के लिये इनका इस प्रकार पालन संभव नहीं होता। कभी-कभी 'ड्रामा' के विषय और कथानक की माँग के कारण इनका इस प्रकार पालन संभव भी हो जाता है। शेक्सपियर ने अपने 'टेम्पेस्ट' तथा 'कामेडी आफ एरर्स' में इन संकलनों का पालन किया है। किन्तु अन्य कृतियों में वह 'समय' और 'स्थान' के ऐक्य की परवाह नहीं करता।

पर पश्चिम के महान् 'ड्रामा' साहित्य को देखकर इस संदर्भ में एक विशेष बात प्रायः सब काल की उत्कृष्ट ड्रामा-कृतियों में समान रूप से मिलती है—विशेषकर उत्कृष्ट दुखान्तकियों में—कि उनमें स्वभावतः बिना किसी कार्य-कारण के दबाव से कार्य की शृंखला और उसकी गति, तेज और बिना अन्तराल के जैसे क्रमिक रही है। शेक्सपियर ने इस क्षेत्र में अपनी महान् कला के प्रभाव में निश्चय ही हमें सदा भ्रम में डाला है कि हम उसकी दुखान्तकी में यह विश्वास करने लगें कि कार्य की गति तेज़ है, क्रमिक है, काल की अवधि कम है। जबकि शेक्सपियर ने अपने ड्रामा में अधिक स्वाभाविकता और सत्यता लाने के लिये, अंकों और दृश्यों के बीच वस्तुतः लम्बे-लम्बे काल के अन्तराल को दिया है। 'हैमलेट', 'ओथेलो', 'मैकबेथ' आदि दुखान्तकी के अंक-निर्माण इस काल-अन्तराल के सुन्दर उदाहरण हैं। पर दृश्यतः यह काल-अन्तराल अनुभूत नहीं होता।

यही सत्य, स्थान-एकता के भी संदर्भ में है। यह निश्चित है कि शेक्सपियर के मंच पर दृश्य नहीं लगाये जाते थे—यहाँ तक कि दृश्य-विधान नहीं के बराबर थे। इस वस्तु-स्थिति से लाभ यह था कि शेक्सपियर अपने रंगमंच की माँग के फलस्वरूप बहुत ही सुविधा और बहुत ही व्यावहारिक रूप से अपने ड्रामों में स्थान का परिवर्तन कर सकता था—जहाँ भी जितनी शीघ्रता से उसकी इच्छा हो। किन्तु फिर भी हम उसके ड्रामों में यह पाते हैं कि जिस ड्रामा में यह स्थान-एकता जितनी तीव्र है, वह ड्रामा उतना ही शक्तिशाली सिद्ध हुआ है। उदाहरण के लिये 'ओथेलो' में केवल दो दृश्य-स्थान हैं—'वेनिस' और 'साइप्रस'। 'हैमलेट' ड्रामा भी अपने अधिकांश रूप में एलिसनोर के 'कैसिल' के ही मध्य घूमता है।

मुख्यतः आधुनिक युग के ड्रामा-लेखकों की कृतियों से यह स्पष्ट है कि उनमें स्थान और काल की एकता का ध्यान सर्वाधिक है। सम्पूर्ण ड्रामा सीधे चौबीस घंटों में समाप्त। सारा ड्रामा सुबह, दोपहर, शाम—एक ही दिन में सम्पूर्ण। 'बर्नार्डशा', 'ओनील', 'चेखोव' और इसके बाद के ड्रामा-लेखक इस दिशा के सर्वमान्य उदाहरण हैं। जैसे कि 'ड्रामा' जीवन के यथार्थ के प्रति आग्रह-शील है। और पश्चिम के प्रायः सभी बड़े ड्रामा-लेखक इस सत्य में विश्वास रखते हैं कि 'स्थान' और 'काल' की एकता के विषय में मर्यादित रहना महत्व-पूर्ण ड्रामा के लिए आवश्यक है।

## कार्य की एकता

कार्य की एकता यद्यपि 'काल' और 'स्थान' की एकता से सम्बन्धित है, फिर भी कार्य की एकता के प्रश्न को इनसे अलग—स्वतन्त्र रूप में भी देखना चाहिए। वस्तुतः कार्य की एकता अपने-आप में इन दो तथ्यों को लेकर चलती है कि—

(क) आधिकारिक कथावस्तु के साथ ड्रामा में कोई भी विशेष महत्व की प्रासंगिक कथावस्तु नहीं होनी चाहिये।

(ख) ड्रामा में दुखान्तकी और सुखान्तकी परस्पर मिलकर नहीं चल सकते। दोनों का अस्तित्व अलग-अलग है।

यह सत्य है कि 'ड्रामा' और नाटक (भारतीय) दोनों में कार्य का संकलन अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस संदर्भ में समय, स्थान-संकलन और कार्य-संकलन के आंगिक सत्य हैं।

## एकांत प्रभाव की एकता

उपर्युक्त तीनों प्रकार की एकता अथवा संकलन-त्रय का सारभूत तथ्य है ड्रामा में केवल एकान्त प्रभाव की एकता। निश्चय ही इस आधारभूत एकता का सम्बन्ध स्थान, काल और कार्य की एकता है, पर मूलतः इस एकता का सम्बन्ध ड्रामा के सृजन-तत्त्व से है, उस रचना-प्रक्रिया से जिसमें दृष्टि के रूप में आदि से अन्त तक यह एकता कार्य करती रहती है और बिना इसके 'ड्रामा' सब नियमों और तत्त्वों से संगठित होते हुए भी निष्प्राण है। वस्तुतः यही एकता

'ड्रामा' का चरम उद्देश्य है। इसकी सामाजिक और कलात्मक उपयोगिता है। और इस एकता की केवल मान्यता यह है कि समूचे 'ड्रामा' से अन्त में केवल एक ही प्रभाव, फल निकले—दो या अनेक नहीं। पर इस एकता का अर्थ यह नहीं है कि समूचे ड्रामा में केवल एक ही भाव और एक-सा ही सब आदि से अन्त तक हो। बल्कि महत्वपूर्ण ड्रामों में अनेक भावों-विचारों के बीच से इसका एक आधारभूत भाव, इसकी एक अपनी दृष्टि उजागर होती है।

संस्कृत रंगमंच इस दिशा में संसार के सभी रंगमंचों में श्रेष्ठ है। वहाँ का 'रस-सिद्धान्त' इस एकता का अभूतपूर्व फल है।

## ड्रामा के प्रतिमान

ड्रामा के मूल्य का निर्णय उसके सिद्धान्त-पक्ष अथवा शास्त्रीय तत्त्वों में न होकर उसके थियेटर (रंगमंच) में ही है। थियेटर का अर्थ यहाँ उसके भौतिक अर्थ में न होकर उसके कलात्मक संदर्भ में है। अतएव किसी ड्रामा को पढ़कर उसके मूल्य का निर्धारण केवल इसी कसौटी पर होगा कि वह 'ड्रामा' अपने रंग-अनुष्ठान में, अपने व्यावहारिक प्रस्तुतिकरण में क्या होगा ? रंगमंच की दृष्टि से 'ड्रामा' में यह स्पष्ट देखना होगा कि इसका मंच-पक्ष क्या है, इसकी प्रेक्षणीयता कैसी होगी और ड्रामा का सर्वोत्कृष्ट गुण, अभिनयात्मिका वृत्ति कितनी है, कैसी है ?

वस्तुतः 'ड्रामा' को पढ़कर कल्पना से अथवा अपनी सृजनात्मक दृष्टि से उसका यह मूल्य ढूँढ़ पाना बहुत ही कठिन है। इसके कई कारण हैं—

(क) ड्रामा-सिद्धान्त की कठिनाई—

इस प्रसंग में ड्रामा के साहित्यिक मूल्य और रंगमंचगत मूल्य—इन दोनों में कठिनाई है। कुछ ड्रामा-लेखकों का मत है कि ड्रामा की महत्ता उसके साहित्यिक मूल्यों में है। 'जार्ज बर्नार्डशा' उन विचारकों में से एक हैं। कुछ का कहना है कि 'ड्रामा' का मूल्य साहित्यिक न होकर केवल रंगमंचगत है।

(ख) रंगमंच के बदलते स्वरूप की कठिनाई—दूसरी कठिनाई है, कि रंगमंच अपने ऐतिहासिक तथ्यों और उत्तरदायित्व के कारण युग के साथ सदा बदलता रहता है—अपने रूप में भी और अपनी कलात्मक संरचना में भी। पश्चिम के महान् ड्रामों के अध्ययन से यह स्पष्ट भी है कि वहाँ के सारे उल्लेखनीय ड्रामे निश्चय ही या तो किसी विशेष अभिनेता को ध्यान में रखकर लिखे गये हैं, या तो किसी 'ट्रूप' (मंडली) के लिये, या व्यापक अर्थ में अपने काल के

किसी विशेष रंगमंच के लिये लिखे गये हैं । अर्थात् ड्रामा-लेखक ने अपनी कृति को अपने समय के दर्शकों के लिये लिखा है ।

इस प्रकार ड्रामा-लेखन का मंच, अभिनेता श्रौर दर्शक इन तीनों पर निर्भर रहना कालान्तर में ड्रामा के मूल्य-निर्धारण में निश्चय ही कठिनाई उपस्थित करता है । क्योंकि इस संदर्भ में युग श्रौर काल के सौन्दर्य-बोध श्रौर कला-प्रतिमान सदैव बदलते रहते हैं ।

## थियेटर श्रौर ड्रामा

यह सत्य है कि साहित्य श्रौर कला के समस्त प्रकारों में ड्रामा एक अलग प्रकार है, जिसका सम्बन्ध सीधे मंच-अनुष्ठान के फलस्वरूप अभिनेता के माध्यम से रंगभवन में बैठे हुए दर्शक-वर्ग से है । स्वभावतः ड्रामा का सम्पूर्ण मूल्य केवल मंच-अनुष्ठान से दर्शकों द्वारा अनुभूत किया जा सकता है ।

पर ऐसा भी देखा जाता है कि कुछ 'ड्रामा' अपने साहित्यिक स्तर पर निर्बल होते हैं श्रौर रंगमंच के स्तर पर सशक्त । दूसरी श्रोर ठीक इसके विपरीत । एक तीसरी श्रौर भी दिशा है—एक ड्रामा रंगमंच के स्तर से निर्बल है श्रौर साहित्य के स्तर से सशक्त । लेकिन किसी एक प्रस्तुतकर्ता ने सहसा उस 'ड्रामा' को अपनी प्रस्तुतिकरण-कला से चमका दिया । स्टेनिस्लैवेस्की के पूर्व 'चेखव' के ड्रामे इस सत्य के उदाहरण हैं । फिर 'ड्रामा' के मूल्य-निर्धारण की स्थिति कैसे पकड़ में आये !

इस स्थिति के उत्तर में ड्रामा श्रौर उसकी कलात्मक नैतिकता का सिद्धान्त रखा जाता है कि एक ड्रामा का प्रस्तुतिकरण उसके साहित्यिक मूल्यों के साथ दर्शक को सहज मनोरंजन देना भी है । दूसरा 'ड्रामा' जैसे कि 'हैमलेट' अथवा अन्य कोई उच्चतम सुखान्तकी के प्रस्तुतिकरण को देखते हैं तो मनोरंजन से आगे कोई श्रौर गहन सत्य हमें स्पर्श कर जाता है । अर्थात् इन ड्रामों में ड्रामा-लेखक श्रौर अभिनेता दोनों हमें मनोरंजन से गहन कोई श्रौर अधिक मूल्यवान् सत्य दे जाते हैं । अब प्रश्न है कि दर्शक ड्रामा से केवल मनोरंजन मात्र चाहता है, अथवा इससे आगे कुछ श्रौर गहन, मूल्यवान् सत्य ? स्वभावतः रुचि श्रौर सौन्दर्य-बोध के अनुकूल इस प्रश्न के अलग-अलग श्रौर भिन्न-भिन्न उत्तर होंगे । 'बेन जान्सन' ने कहा है कि ड्रामा का मूल्य 'मनोरंजन' श्रौर शिक्षा देने में है 'Delite and Teach' । 'मोलीयर' ने कहा—ड्रामा आनन्द श्रौर मनोरंजन मात्र के लिये है । अरस्तू ने ड्रामा को 'रेचन' सिद्धान्त के अन्तर्गत रखकर देखा है ।

## ड्रामा की शिल्पविधि

ड्रामा की रचना करते समय उसके रूप और व्यक्तित्व के लिये इन तीन तत्त्वों की आवश्यकता पड़ती है :

○ वर्ण्य विषय : (थीम) जो ड्रामा का मूलाधार होगा—विचार और विषय की दृष्टि से।

○ चरित्र : जिसके माध्यम से वर्ण्य विषय की अभिव्यक्ति होती है, और तद्स्वरूप ड्रामा चरितार्थ होता है।

○ कथोपकथन : जिसके द्वारा ड्रामा को व्यावहारिक अभिव्यक्ति प्राप्त होती है।

अरस्तू ने ड्रामा के निम्नलिखित तत्त्व बताये हैं :

कथा
चरित्र अथवा पात्र
भाषा
विचार
संगीत
दृश्यता।

और इन सब के अन्त में उसने स्पष्टतः यह कहा कि 'ड्रामा' में सबसे आवश्यक और प्रमुख तत्त्व है घटनाओं का चयन। क्योंकि दुखान्तकी सम्पूर्ण अनुकरण है—केवल मनुष्य का अनुकरण नहीं, बल्कि यह जीवन में कार्यों का अनुकरण अधिक है। और जीवन क्या है—कार्यों का समूह।

वस्तुतः ऊपर के तत्त्व ड्रामा की शिल्प-विधि की दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि 'ड्रामा' कथोपकथन के माध्यम से कहानी प्रस्तुत करने की एक कला है, अतएव कथानक ड्रामा का मूलाधार तत्त्व है। किन्तु 'ड्रामा' का व्यावहारिक सम्बन्ध थियेटर और मंच से है, और मंच एक ऐसा स्थान है, जिसका सीधा सम्बन्ध दर्शकों से है—ऐसे दर्शक जो 'ड्रामा' के अनुष्ठान को देखने और सुनने दोनों आते हैं। फलतः 'ड्रामा' में प्रेक्षणीयता, कार्य, दृश्य, अभिनयात्मिका वृत्ति, ये समस्त तत्त्व नितान्त आवश्यक हैं।

## ड्रामा के तत्त्वों का अध्ययन

ड्रामा के उन तत्त्वों को जानना आवश्यक है, जिनसे ड्रामा की संरचना

होती है, ग्रौर जिनसे ड्रामा को एक विशेष स्वरूप ग्रौर प्रभाव मिलता है। पिछले ही पृष्ठों में हमने देखा है कि ग्ररस्तू ने ड्रामा के छः मूलभूत तत्त्वों को बताया है :

कथावस्तु
चरित्र
विचार
भाषा
संगीत
दृश्यता

ड्रामा के ये मूलभूत तत्त्व एक तरह से ग्रादिम तत्त्व हैं। ग्राधुनिक समय में इन तत्त्वों में काफी हेर-फेर की गुंजायश है, तथा इनमें से कई तत्त्वों पर विचार-विनिमय ग्रौर ग्रसहमति भी प्रकट की जा सकती है। किन्तु ग्रध्ययन की गरिमा के लिये ग्ररस्तू के बताये हुए इन तत्त्वों को ही ग्राधार बनाये रखना ज्यादा उचित है।

## कथावस्तु

ग्ररस्तू ने कथावस्तु को ग्रत्यधिक महत्त्व दिया है। कथावस्तु के प्रति उसकी ग्रवधारणा भी काफी संश्लिष्ट है। इसके ग्रन्तर्गत निम्नलिखित ग्यारह पक्ष सन्निहित हैं, जो ड्रामा की संरचना से सीधे सम्बन्धित हैं :

उद्घाटन (एक्सपोजीशन)
ग्रन्वेषण (डिस्कवरी)
ग्राक्रमण बिन्दु (प्वाइन्ट ग्रॉफ ग्रटैक)
पूर्व छाया (फोर शैडोइंग)
संकट (काम्पलीकेशन)
चरमसीमा (क्लाइमेक्स)
संघर्ष (क्राइसिस)
निर्वहण (डिनाउमेन्ट)
काल-ग्रन्विति (यूनिटी ग्रॉफ टाइम)
स्थान-ग्रन्विति (यूनिटी ग्रॉफ प्लेस)
कार्य-ग्रन्विति (यूनिटी ग्रॉफ ऐक्सन)

कथावस्तु के इतने पक्ष किसी न किसी रूप-स्तर में सभी महत्वपूर्ण ड्रामा में

मौजूद रहते हैं। किन्तु प्राय: यह भी देखा जाता है कि ये पक्ष इस क्रम से सभी ड्रामा में समान रूप से विद्यमान रहें—यह कोई निश्चित नहीं है। उदाहरण के लिये चरम सीमा और संघर्ष एक ही बिन्दु पर घटित हो सकते हैं। और उद्घाटन का इस्तेमाल पूर्व छाया के रूप में हो सकता है। फिर भी कथावस्तु से सम्बन्धित इतनी सामग्री ड्रामा-संरचना के मूल पक्ष हैं।

कथावस्तु की महत्ता अरस्तू के इस कथन से स्पष्ट है, जहाँ वह प्लॉट को दुखान्तकी का जीवन और आत्मा मानता है। प्लॉट से अरस्तू का तात्पर्य मात्र कथा या कहानी से नहीं है, बल्कि प्लॉट उसकी दृष्टि में वह महत् सत्य है, जो ड्रामा को स्वरूप प्रदान करता है।

कथावस्तु की संरचना-पद्धति में आदि से अब तक स्वभावत: कितने रूप बदले हैं। ग्रीक दुखान्तकी में कथावस्तु का सीधा और कसावदार होना जहाँ इसका प्रथम रूप था, वहाँ इसी का रूप मध्ययुगीन ड्रामा में ढीला और फैलावदार हो गया। आगे उत्तरोत्तर इसका रूप संश्लिष्ट हुआ। जीवन के दैनिक, यथार्थ-खंडों से छनकर इसका निर्माण हुआ। कथावस्तु से ज्यादा विषयवस्तु को महत्ता मिलना भी इसी के अनेक रूपों में से एक था। फिर आज ऊल-जलूल (एंटीड्रामा) में कथावस्तु के सारे स्वरूप में ही क्रान्ति के चिह्न देखने को मिले। फिर आया 'एपिक ड्रामा' जिसमें निश्चित कथावस्तु के प्रति कोई आग्रह नहीं रहा। किन्तु इन सब विभिन्नताओं के बावजूद कथावस्तु के मूल पक्ष सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। कारण, ड्रामा में जीवन और व्यक्ति का जो संघर्ष-बिन्दु, निर्णय के जो क्षण आधारभूत ढंग से मौजूद रहते हैं, उन्हीं में से प्लॉट की मूल स्थिति स्वभावत: पैदा हो जाती है। इस मूल स्थिति के लिये सोफोक्लीज (ग्रीक) और शेक्सपियर (एलिजाबीथन) जैसे नाटककार, चरित्र के चारों ओर ऐसी परिस्थितियाँ बोते थे, जहाँ उस चरित्र के सामने निर्णय लेने न लेने के बीच एक घोर संग्राम छिड़ता था। ऐंटिगनी, हैमलेट, ओडिपस—सब ऐसे ही चरित्र तो हैं।

कथावस्तु नाटक का वह मूलाधार है, जहाँ से नाटक का सारा विकास, उसकी सारी परिणति और संभावनायें अपने लिये ठोस भूमि पाती हैं। कथावस्तु ही नाटक में घटित समस्त घटनाओं और कार्यों की समुचित व्याख्या और अर्थबोध देती है। नाटक से उठे अनेकानेक प्रश्नों के उत्तर इसी कथावस्तु-तत्त्व में मिलते हैं। क्यों ओडिपस जैसा महान् राजा इस तरह अंधा होता है और स्वयं निर्वासित होता है? 'डाल्स हाउस' में नौरा को ऐसा क्या हो जाता कि वह

अंत में अपने उस प्यारे परिवार को त्यागकर चली जाती है ? कथावस्तु इन सारे प्रश्नों के समुचित विश्वासपूर्ण उत्तर देती है—कोरी वकालत करके नहीं, किन्तु छोटी-छोटी घटनाओं, कार्यों और व्यापारों की ठोस नज़ीर पेश करके—ऐसी तमाम नज़ीरें जो उसे साक्षात् जीवन से और उसके यथार्थ से मिली हैं।

कथावस्तु में इतना अर्थ-बोध, इतनी संरचना-शक्ति और प्रभाव उसकी कुछ शिल्पगत विशेषताओं के कारण पैदा होता है, जिनसे उसका संगठन किया जाता है।

## उद्घाटन

जब किसी ड्रामा का पर्दा उठता है, और दर्शक-गण मंच पर नाटक का प्रारम्भिक व्यापार देखने-समझने के लिये आतुर हो उठते हैं; तभी नाटकार के सामने दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं—प्रथम, दर्शक का समूचा ध्यान वह कैसे अपने नाटक के प्रति खींच ले ! दूसरे, वह किस तरह अपने नाटक की वह सारी पृष्ठभूमि दर्शक को जता दे, ताकि वे पात्रों के पारस्परिक संबंध को जान लें, नाटक के मूल प्रश्न से उनका नाता जुड़ जाय और वे इस तरह नाटक से सम्बद्ध हो जाएँ। यही नाटक का उद्घाटन है।

'डॉल्स हाउस' के बिलकुल प्रारम्भ में ही, नाटक का पर्दा उठते ही इब्सन किस तरह नाटक का उद्घाटन करता है, यह बड़ा ही कलात्मक उदाहरण है। बरामदे की घंटी बजती है। नोरा का प्रवेश। पहनावे से लगता है, वह बाहर से आ रही है। उसके हाथ में कई पैकेट्स हैं, जिन्हें वह टेबिल पर रखती है। प्रवेश का दरवाजा खुला रह गया है, जिससे एक कुली दिखाई पड़ता है, जिसके हाथ में एक क्रिसमस ट्री है, और एक बास्केट है, जिसे वह नौकरानी को दे देता है, नौकरानी, जिसने घंटी बजने पर घर का दरवाजा खोला था।

नोरा कहती है—एलिन, सावधानी से क्रिसमस ट्री को छिपाओ। और देखो शाम से पहले बच्चे किसी तरह भी इसे न देख पायें।

फिर वह कुली से पूछती है—कितनी मजदूरी ? कुली बताता है पचास 'ओर'। नोरा कहती है लो क्राउन, (पचास 'ओर' से ज्यादा, और शेष रेज़गारी भी नहीं लेती)। कुली धन्यवाद देकर चला जाता है। नोरा दरवाजा खुद बन्द करती है। वह बहुत खुश है। सामान में से मैकारुन्स का पैकेट निकालती है, और दो-एक अपने मुँह में डाल लेती है। फिर वह पंजे पर चलती हुई बहुत आहिस्ता से अपने पति के दरवाज़े पर जाती है और सुनती है। पति कमरे में

ही है। वह गुनगुनाने लगती है। भीतर से पति की आवाज़ आती है, 'मेरी लार्क, मेरी गिलहरी···आ गयीं तुम ?' नोरा बताती है, वह अभी-अभी आयी है। और यह कहती हुई वह मेकारुन को पैकेट में छिपाती है और अपना मुँह पोंछती है। पति से कहती है—'आओ देखो, मैंने क्या-क्या खरीदा है।' पति जवाब देता है —'अभी विघ्न मत डालो' ···और थोड़ी देर बाद पति दरवाज़ा खोलकर प्रवेश करता है। कहता है—'क्या मेरी भोली फिज़ूलखर्च बीवी ने सब कुछ फिर उड़ा दिया ?' नोरा कहती है—'थोड़ा खर्च कर लिया जाय, फिर थोड़े ही दिनों में तो तुम खूब धन कमाओगे।' पति कहता है—'उसके लिये तो अभी तीन हफ्ते की देर है।' नोरा कहती है—'कोई परवाह नहीं, तब तक के लिये उधार ले लेंगे।' पति नोरा के पास जाता है, और प्यार से उसके कान पकड़ता है।

इस दृश्य के बाद नोरा की पुरानी परिचिता स्त्री आती है—जो इधर बहुत दिनों से बाहर थी। स्वभावतः उससे सारी पिछली बातें बताने की स्थिति (उद्घाटन) इब्सन ढूंढ़ लेता है। बीती हुई घटना प्रकट हो जाती है और नाटक को अपना सही प्रसंग प्राप्त हो जाता है। साथ ही नाटक के विषय, समस्या, वातावरण, पृष्ठभूमि का समुचित संकेत मिल जाता है। पात्रों के पारस्परिक संबंध और उनके निजत्व का भी किंचित बोध हो जाता है।

उद्घाटन का यह पक्ष अनेक नाटककारों में तरह-तरह के ढंग से प्रतिष्ठित होता है—इसके शिल्प भी विभिन्न हैं, पर इसकी आवश्यकता सर्वत्र समान है।

## अन्वेषण

नाटककार का दर्शक के प्रति यह दायित्व है कि वह अनेक सूचनायें तलाश करके प्रकट करे ताकि विशेषकर विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्व का बोध वह दे सके। कौन पात्र क्यों इस तरह व्यवहार कर रहा है, उसकी मनोवृत्ति क्या है, क्यों है, इस सबका अन्वेषण वह दर्शक के सामने प्रस्तुत करता है। सबसे सन्तोषप्रद और कलात्मक अन्वेषण वह है जो पात्र द्वारा स्वयं प्राप्त किया जाय, ताकि उन्हीं से दर्शक अपनी समवेदना बँटा सके, यही अन्वेषण प्रभावपूर्ण और स्वाभाविक होता है। उदाहरण के लिए 'हैमेलेट' में कितने स्तरों से धीरे-धीरे सत्य का अन्वेषण होता है। राजा का प्रेत रहस्योद्घाटन करता है। क्लाडियस के अपराध का पता चलता है। ओफोलिया का पागलपन, उसकी आत्महत्या, हैमलेट की हत्या की साज़िश, पलोनियस की वह रहस्यमयी मृत्यु, वह विषाक्त तलवार और पीने के पानी में घुला हुआ वह विष, अन्वेषण की

इतनी बड़ी भूमिका आदि से अन्त तक ।

उद्घाटन का क्षेत्र मूलतः सामान्य सूचनाओं के बोध तथा पृष्ठभूमि-ज्ञान तक ही सीमित है, जबकि अन्वेषण पक्ष का क्षेत्र वर्तमान से होकर आने वाले भविष्य में घटने वाले सत्य तक फैला हुआ है । उदाहरण के लिए, डॉल्स हाउस' में नोरा द्वारा अपने पति के वास्तविक चरित्र का अन्वेषण ।

## आक्रमण-बिन्दु

ड्रामा (नाटक) में उद्घाटन तत्त्व प्रतिष्ठित होने के बाद उसका रूप तब उस नाटकीय पक्ष के लिए बिलकुल तैयार हो जाता है, जहाँ से नाटक का महत् बिन्दु शुरू होता है । इस महत् बिन्दु को आक्रमण बिन्दु कहते हैं । यही बिन्दु नाटक के मूल कार्य का आधार बनता है । आक्रमण बिन्दु नाटक में उस उस स्थिति को कहते हैं, जहाँ से नाटक के मूल संघर्ष पर प्रश्न का, संशय का और रहस्य का आघात पड़ता है । उत्तेजना और वस्तुस्थिति में एक खिचाव जहाँ से शुरू होता जाता है, वही है आक्रमण बिन्दु । जहाँ 'हैमलेट' में होरेशियो हैमलेट के पिता का प्रेत देखता है, ओथेलो जहाँ डेस्डेमोना से ब्याह करता है । क्रियान जहाँ पोलिनीयज की लाश को दफनाने से मना करवा देता है । 'डाल्स हाउस' में जहाँ राग्सटाड नोरा के रहस्य-उद्घाटन की धमकी देता है । 'ओडिपेस रेक्स' में जहाँ राजा ओडिपस प्रजा की प्लेग से मुक्ति के लिए उनसे वचनबद्ध होता है । ये सब नाटक में वे महत् बिन्दु हैं, क्षण और नाट्य-स्थितियाँ हैं, जहाँ से नाटक का मूल कार्य ठीक उसी तरह से शुरू हो जाता है, जैसे पलीते में आग छुआने से सारी आग सहसा भीतर-बाहर फैल उठती है । और वह आग तब तक नहीं खत्म होती, जब तक उसकी पूरी प्रक्रिया, उसका पूरा कार्य न सम्पूर्ण हो जाय ।

## पूर्वछाया

नाटक एक कार्य है । और यह महत् कार्य, छोटे-छोटे असंख्य कार्यों, व्यापारों तथा घटनाओं से निर्मित होता है । नाटक में इस कार्य की निश्चित पूर्व योजना होती है । जो आगे घटने जा रहा है, उसे पूर्ण विश्वसनीय बनाने

के लिये शुरू से ही उसकी तैयारी होती है। जीवन में अनेक घटनायें, बातें और कार्य बिल्कुल अप्रत्याशित रूप में, बिना किसी पूर्व सूचना के घट जाती हैं। किन्तु नाट्य-रचना में यह संभव नहीं। क्योंकि नाटक का सम्बन्ध सीधे दर्शक की संवेदना से है। उसके विश्वास और प्रतीति से है। इसलिये नाटक में जो फल, जो परिणाम, जो कार्य भविष्य में आने वाला है, उसका बीजा-रोपण पहले ही हो जाता है।

इस कला-योजना से नाटक में विश्वास और प्रतीति के अतिरिक्त कई अन्य उपलब्धियाँ हैं। जैसे नाटक में जिज्ञासा और कौतूहल का निर्माण, उसकी समवेदना में एक मानवीय रुचि का संचार और अन्ततः उसमें एक नाटकीय तनाव के तत्त्वों की प्रतिष्ठा। 'हैमलेट' नाटक के शुरू की तीस पंक्तियों में 'भयावह दृश्य' के लिये अनेक प्रसंग, चर्चा और बात उठती है, जिससे एक वातावरण बनता है और हैमलेट के पिता के प्रेत के प्रवेश की पूर्व स्थिति तैयार करता है। 'डॉल्स हाउस' में नोरा के पहले प्रवेश में 'छिपाने' की ही बात से उसका कथन शुरू होता है। मैकारुन को छिपाकर लाने से दर्शक उसके चरित्र के इस पक्ष के उद्घाटन के लिये बिलकुल तैयार हो जाता है, और उसे वहाँ विश्वस्त आनन्द मिलता है, जहाँ नोरा की यह बड़ी चोरी और छल उद्घाटित होता है कि उसने तो अपने पिता के जाली दस्तखत कर रखे हैं। 'हैडा गैब्लर' में पिस्तोल नाटक के कार्य-व्यापार में कई पूर्वस्थितियों में आया है—वही पिस्तौल, जिससे अंत में हैडा आत्म-हत्या करती है।

## संकट

आक्रमण-विन्दु से ही नाटक में संकट की शुरुआत हो जाती है। पहला संकट वस्तुतः वही बनता है। उसी संकट से स्थिति उत्तरोत्तर जटिल होती जाती है। जितना बड़ा यह संकट होता है, जितना मानवीय और जीवन्त, ठीक उसी अनुपात में नाटक श्रेष्ठ होता है। वस्तुतः संकट के क्षण ही नाटक में नाटकीय तत्त्व उजागर करते हैं। उन्हीं स्थितियों में चरित्रों का अन्वेषण होता है। नाटक के व्यापार में गति आती है। और नाटक की कला अंत की ओर बड़ी तेज़ी से बढ़ती हुई प्रतीत होती है। शेक्सपियर, इब्सन, ओ नील, मुख्यतः इन तीन नाटककारों ने संकट के तत्त्वों का पूर्ण कलात्मक प्रयोग अपनी नाट्य-कृतियों में किया है। 'रोमियो एंड जूलियट' नाटक में रोमियो जूलियट से प्रेम कर बैठता है। लेकिन स्थिति में संकट उत्पन्न होता है, क्योंकि दोनों

परिवारों में दुश्मनी थी। रोमियो जूलियट को पाने के लिये टाइबाल्ट की हत्या करता है। इससे संकट और गंभीर हो जाता है। रोमियो का बहिष्कार होता है। जूलियट का पिता अविलम्ब अपनी बेटी की दूसरी जगह शादी करना चाहता है। इस संकट से बचने के लिये जूलियट अपनी मृत्यु का स्वांग रचती है। किन्तु इस रहस्य-योजना का पत्र रोमियो को नहीं मिलता। संकट तीव्रतर होता है। रोमियो समझता है कि उसकी प्रिया जूलियट सचमुच मर गयी। वह इस वियोग में उसके पास बैठकर विष पी लेता है और उसकी मृत्यु हो जाती है। जूलियट जादुई मृत्यु से उठकर जब प्रियतम की यह दशा देखती है, तब उसके सामने संकट तीव्रतम हो जाता है और वह भी मृत्यु को प्राप्त होती है।

संकट की परिस्थितियों के माध्यम से ही वास्तव में कथावस्तु की संरचना होती है। ग्रीक और एलिजाबीथन युग के नाटक इस पक्ष में सर्वथा परि-पूर्ण हैं।

## चरमसीमा

कार्य की चरम परिणति को चरमसीमा कहते हैं। जहाँ द्वन्द्व अथवा संघर्ष तनाव की उच्चतम स्थिति में पहुँचता है। नाटक में इसी चरमसीमा विन्दु को मूलतः ध्यान में रखकर अनेक नाट्याचार्यों ने नाटक के पूरे संग-ठन को इन्हीं पांच चरणों में ही बांटकर देखा है :

- भूमिका
- विकास
- चरमसीमा
- प्रत्यावर्तन या पतन
- प्रकर्ष

चरमसीमा नाटक के संगठन में निश्चय ही उच्चतम बिन्दु है। यह उच्च-तम बिन्दु नाटक के प्रत्येक दृश्य, अनुक्रम और अंक की छोटी-छोटी चरम-सीमाओं से विकसित होता हुआ अंततः निर्मित होता है। वस्तुतः नाटकीय चरमसीमायें प्रतिफलन हैं उस कलात्मक योजना के, जहाँ कार्य और घटनायें एक के बाद एक पर अपनी स्वाभाविक परिणति को प्राप्त होती हैं। और नाटक का तनाव उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। 'डॉल्स हाउस' में चरमसीमाओं की यह कलात्मक योजना देखी जा सकती है।

- ○ राग्स्टॉड नोरा के रहस्योद्घाटन की धमकी देता है ।
- ○ नोरा अपने पति हैल्मर से राग्स्टॉड को न निकालने के लिये वकालत करती है और असफल होती है ।
- ○ राग्स्टॉड वही भयानक पत्र हैल्मर को लिखता है ।
- ○ नोरा पूर्ण प्रयत्न करती है (नाच-गाकर तक) कि पति वह पत्र न पढ़ सके ।
- ○ पति उस पत्र को पढ़ता है तथा पत्नी (नोरा) को कलंकित करता है ।
- ○ राग्स्टॉड का दूसरा पत्र पति (हैल्मर) की इज़्ज़त और नाम को बचाता है ।
- ○ नोरा अपने उस घर-त्याग के निर्णय को पति से बताती है ।

'डॉल्स हाउस' नाटक की ये सारी चरमसीमायें नाटक के उसी मूल कार्य से संबंधित हैं, जहाँ भावना का क्रमिक विकास अपनी स्वाभाविक परिणति को सहज ही प्राप्त होता है ।

## संघर्ष

संघर्ष और चरमसीमा ये दोनों नाट्य-बिन्दु प्रायः एक-दूसरे से भिन्न हैं । इन दोनों की प्रतिष्ठा कभी-कभी एक ही स्थान पर हो जाती है, फिर भी संघर्ष नाटक में उस स्थल पर आता है जहाँ मूल चरित्र के सामने किसी एक निर्णय लेने का विकट समय उपस्ति होता है । यह समय इस नाटक की आत्मा की चरमसीमा भी हो सकती है । वस्तुतः संघर्ष में दो विरोधियों के स्वार्थ की टक्कर होती है । एक ऐसा विन्दु जहाँ किस्मत का, संकल्प का अन्तिम फैसला होने को होता है । हैमलेट के हाथ में तलवार है, क्लाउडियस अकेला अरक्षित पूजा कर रहा है, हैमलेट अपने उस भयानक शत्रु को मारे या न मारे । नोरा को फैसला लेना है, वह अपने उस घर और पति को त्याग दे या नहीं ।

यह संघर्ष कभी चरित्र स्वयं निर्मित करता है, या उसपर परिस्थितियों द्वारा डाल दिया जाता है । वह चरित्र उस संघर्ष-स्थिति में जो निर्णय लेता है, वही आगे के नाटक में कार्य का अन्तिम आधार बनता है ।

## निर्वहण

नाटक के अन्तिम फल को निर्वहण कहते हैं। जो समस्या नाटक में उठी थी, उसी का हल। 'डाल्स हाउस' में नोरा अपने घर को त्यागकर चली जाती है। 'हैडा गैब्लर' में हैडा आत्म-हत्या करती है। 'ओडिपेस रेक्स' में राजा ओडिपस आत्म-निर्वासित हो जाता है। 'रोमियो एण्ड जूलियट' में प्रेमी और प्रेमिका का मिलन, मृत्यु के उस पार होता है। 'डैथ ऑफ ए सेल्समैन' में विली लोमन की कार लड़ती है और उसकी मृत्यु होती है—यह सूचना उसके घर में आती है।

संघर्ष के कारण नाटक में जो तनाव खिचा था, निर्वहण-बिन्दु पर आकर उस संघर्ष की परिसमाप्ति हो जाती है। संघर्ष से शान्ति।

सुखान्तकी का निर्वहण कठिनाइयों को पार करता हुआ, उसे हल करता हुआ अन्त में प्रेमी और प्रेमिका के मिलन में होता। इसके ठीक विपरीत दुखान्तकी में सबका करुण अन्त होता है।

## अन्वितियाँ

नाट्य-अन्वितियों की चर्चा पहले हो चुकी है। यहाँ इस प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि ड्रामा की संरचना में किसी न किसी स्तर से अन्वितियों की प्रतिष्ठा आवश्यक है। विशेषकर कार्य की अन्विति की। यद्यपि यह बड़ा मनोरंजक विषय है कि जिस अरस्तू ने पहली बार नाट्य-अन्वितियों की चर्चा की है, उसने केवल 'काल' और 'कार्य' की ही अन्वितियों की बात उठायी है।

रेनसाँ के बाद के नाट्याचार्यों ने देश, काल, कार्य, इन तीनों अन्वितियों की चर्चा की है—और तभी से इन्हें 'क्लैस्किल यूनटीज़' की संज्ञा प्राप्त हुई है।

वस्तुतः नाटककार, आचार्यों के बताए हुए नाट्य-सिद्धान्तों के आधार पर नाटक रचना नहीं करते, वरन् वे अपने समय के रंगमंच की वास्तविक माँग के अनुरूप नए नाटक की रचना करते हैं।

कार्य की अन्विति के विषय में अरस्तू के जो विचार थे, उनका उल्लंघन विशेषकर एलिजाबीथन रंगमंच काल में बेतरह हुआ है। सरल-सहज कथावस्तु के स्थान पर कठिन मिश्रित कथावस्तु का निर्माण, तथा सुखान्तकी-दुखान्तकी के तत्त्वों का परस्पर मिश्रण। मध्ययुगीन सुखान्तकियों में गम्भीर नाट्य-तत्त्वों

का मेल भी एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। जापान के 'काबुकी ड्रामा' में भी यही सत्य पूर्ण रूप से मिलता है।

## चरित्र

चरित्र के माध्यम से ही कथावस्तु बनती है। चरित्र का व्यक्तित्व, इसकी इच्छाशक्ति ही नाटक का सारा कार्य-व्यापार है। नाटक के अन्य तत्वों के अनुरूप ही चरित्र के अनेक रूप, उनके निर्माण के विभिन्न शिल्प नाट्य-साहित्य में देखने को मिलते हैं। ग्रीक, एलिजाबीथन और जापानी नाटकों में स्त्री-पात्रों की भूमिकाएँ पुरुष अभिनेताओं द्वारा अदा की जाती थीं। मध्ययुगीन नाटक में चरित्र का स्वरूप प्रायः प्रतीकात्मक हो गया था। आधुनिक युग के नाटककारों ने चरित्र को पूर्णतः यथार्थ धरातल से ग्रहण किया है, और उसके व्यक्तित्व की व्यापक गहराई में वे गए हैं। चरित्र के मनोविज्ञान में पैठकर उसके जटिल स्वरूप को ढूँढ़ा है। इब्सन, ओ नील, स्टिन्बर्ग, चेखव, आर्थर मिलर और जाँ पाल सार्त तथा टेनिसी विलियम ने यथार्थ जीवन और जगत के पूर्ण जीवन्त चरित्रों को उनकी सारी मनोवैज्ञानिक सीमाओं और सम्भावनाओं के साथ अपने नाटकों में उपस्थित किया है।

रचना-शिल्प की दृष्टि से चरित्र-रचना प्रायः चार पक्षों से की जाती है। चरित्र-रचना अपने बाह्य स्वरूप से। चरित्र की शारीरिक दशा, वेश-भूषा, उम्र आदि जिनके आधार से दर्शक या पाठक तत्काल चरित्र से सीधे परिचित हो जाता है। इस पक्ष के वर्णन और सूक्ष्म विवेचन में आधुनिक यथार्थवादी और विशेषकर प्रकृतवादी नाटककार बहुत ही मर्मज्ञ है।

भाषा—बोली दूसरा पक्ष है, जिसके द्वारा चरित्र का उद्घाटन होता है। चरित्र जिस तरह की भाषा इस्तेमाल करता है, जिस तरह वह बोलता है, जैसा उसका उच्चारण है, बोली की गति है, जैसी उसकी आवाज़ है, इन सबके द्वारा चरित्र की पहचान बहुत ही स्वाभाविक है।

यथार्थवाद के पूर्व तक नाटककार चरित्र-उद्घाटन के लिए स्वगत कथन और जनान्तिक का इस्तेमाल करते थे, लेकिन जब से नाट्य-क्षेत्र में सत्याभास का चरण आया है, ऐसे साधन प्रायः छोड़ दिए गए हैं।

इसकी पूर्ति के लिए 'कार्य' आ गया है। चरित्र अपने व्यवहार से, अपने छोटे-छोटे कार्यों से अपने व्यक्तित्व की, मनोभाव की सारी सूचनाएँ दे जाता है। यह तीसरा साधन है चरित्र-निर्माण के प्रसंग में।

चौथे प्रसंग में वह पक्ष आता है कि अमुक चरित्र के बारे में पात्र क्या कहते हैं, और उसके लिए वे क्या विचार और प्रतिक्रिया रखते हैं ।

वस्तुतः नाटक के समूचे शिल्प पर चरित्र की स्पष्टता, निश्चित-रूपता निर्भर करती है । जो नाटक मूलतः प्रस्तुतिकरण के लिए उसी की सारी व्यावहारिक आवश्यकताओं के बीच से लिखे गए होते हैं, उनके चरित्र बड़े ही समृद्धिशाली व्यक्तित्व और निजत्व के होते हैं, और उनमें एक अजब रंग और प्रभाव होता है । क्योंकि तब ऐसे चरित्र 'कार्य' के बीच अपना सहज निर्माण पाते हैं । उदाहरण के लिए 'हैमलेट' का चरित्र इतना विशाल और मनोरंजक इसी लिए है कि वह विभिन्न स्थितियों और दृष्टिकोणों में विभिन्न पात्रों के संदर्भ-सूत्रों में देखा और समझा जाता है । हैमलेट और प्रेत, हैमलेट और होरेशियो, हैमलेट और ओफीलिया, हैमलेट और गर्ट्रूड, हैमलेट और पलोनियस आदि । हैमलेट के इस विशद् व्यक्तित्व की तुलना में जब हम ग्रीक ड्रामा के 'ओडिपस' का चरित्र देखते हैं तो स्पष्ट होता है, के कितने सीमित सन्दर्भों में, दृष्टिकोणों में यह चरित्र वहाँ चित्रित हुआ है ।

## विचार

विचार-तत्त्व अरस्तू के शब्दों में (डाइनोइया) ड्रामा के उस अंग से संबंधित है, जहाँ नाटक में जितना तर्क, विचार-तत्त्व है । विचार-तत्त्व बौद्धिक तत्त्व से कहीं ज्याद ऊपर है—ऐसा अरस्तू ने 'थाट' की विवेचना में स्पष्ट किया है ।[1]

---

1. Dionoia (Thought) in the sense it bears in the poetics is like, Ethos (Character) an element in the personalty of the dramatis personale. It is their intellectual capacity as evinced in their language (or may be in their action), and it is to be seen whenever thay argue or make an appeal to the feelings of their hearers, in other words when thay reason or plead with one of the other dramatis prsonale in the same sort of way as a rhetor might do.

क्योंकि नाटक केवल वस्तुगत विचार-विनिमय नहीं है। नाटक में जो कुछ घट रहा है, चरित्र जितना कुछ संघर्ष कर रहे हैं, जो कुछ फलित हो रहा है, समूचे नाटक में—वह सब बुद्धि के परे की शक्तियों के कारण, अन्यान्य परिस्थियों और स्थितियों की वजह से हो रहा है। जिसमें भावना, इच्छाशक्ति, मनोभाव, मनोविज्ञान का बहुत बड़ा हाथ है—इतना बड़ा कि वह सब तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। 'डॉल्स हाउस' में नोरा घर त्यागकर चली जाती है—इस कार्य के लिए भावनाओं और अन्त:संघर्षों की वह पूरी विशद तैयारी समूचे नाटक में देखने योग्य है।

चरित्र के तर्कपूर्ण, विश्वसनीय व्यक्तित्व-निर्माण के अतिरिक्त 'विचार' का सम्बन्ध नाटक की विषय-वस्तु से है—जहाँ नाटक की सारी समस्या, पूरा विषय एक विचार शब्द में बाँधा जा सकता है—जैसे 'मैकबेथ' के लिए—महत्वाकांक्षा भयानक है। 'डॉलस हाउस' में, स्त्री-पुरुष की असमानता वैवाहिक जीवन को तोड़ने वाली है।

किन्तु सचमुच श्रेष्ठ नाटकों में उसके विषय और लक्ष्य को इतनी आसानी से नहीं पकड़ा जा सकता है। उनमें अनेक अर्थ होते हैं। उनकी अनेक व्यवस्थाएँ होती रहती हैं—जैसे 'स्ट्रीटकार नेम्ड डिजायर' में प्रत्यक्षत: एक व्याख्या नाटक को पढ़कर मिलती है, किन्तु सर्वथा उससे भिन्न दृष्टि एलिया कज़ान अपनी प्रस्तुति में देता है। इसी तरह हैमलेट, शाइलाक, क्रियोन और बिली लोमन का वास्तविक चरित्र क्या है, इसके विषय में अनेक वाद-विवाद चलते ही रहते हैं।

विचार-तत्त्व केवल उपदेशात्मक, प्रचारात्मक नाटकों में ही एक निश्चय के साथ पकड़े जा सकते हैं। श्रेष्ठ नाटक जीवन की ही तरह गहन होते हैं—विचार-भावना, प्रतिक्रिया, मनोविज्ञान और अनेक प्रभावों से युक्त।

## भाषा

अरस्तू ने ड्रामा का चौथा तत्त्व 'भाषा' बताया है। वे शब्द जो पात्रों के रूप में मंच पर अभिनेता बोलता है। यह वह माध्यम है, जिसके द्वारा पात्र अपने विचार और अन्तत: नाटक के विचार दर्शक तक सम्प्रेषित करते हैं।

नाटक की भाषा सीधी और सरल होती है, जो तुरन्त अपने अर्थ के साथ दर्शक की समझ में आ जाय। नाटक, उपन्यास या कविता पुस्तक नहीं है कि उसकी व्याख्या के अर्थ समझने के लिए दर्शक रंगभवन में बैठकर नाटक के पृष्ठ उलटकर देख सके। यह सम्भव ही नहीं।

भाषा कथनोपकथन के ही रूप में नाटक में मूलतः व्यवहृत होती है। फलतः स्पष्टता, सीधेपन के अतिरिक्त इसे मनोरंजक होना आवश्यक है। वरना दर्शक के लिए रुचिकर ही न हो सकेगा। भाषा को जीवन और चरित्र की आत्मा को पकड़कर चलना होता है।

भाषा-प्रयोग के लिए नाटककार को कवि की दृष्टि चाहिए। वही गति, वही पैठ। ग्रीक और एलिजाबीथन महान् नाटककार कवि की भाषा और वाणी में ही नाटककार थे। यह स्थिति प्रायः उन्नीसवीं सदी से पूर्व तक रही है।

आधुनिक नाटककार—विशेषकर समसामयिक नाटककार की भाषा में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। साहित्य से यह बोलचाल की भाषा-स्तर पर आया है। उसमें आंचलिक तत्त्व भी उभरे हैं। अभिव्यंजनावादी नाटक में भाषा के स्वरूप में बड़ा गहन चित्र उभरा है। 'एरीएप' और 'कमीनौरियल' नाटक की भाषा इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। भाषा-प्रयोग से ही नाटक में चरित्र की मनःस्थिति और नाटक की वृत्ति का सीधे ज्ञान और प्रभाव मिलता है। 'स्ट्रीटकार नेम्ड डिजायर' की भाषा में एक और यथार्थ जीवन की बोली जाने वाली बोलियाँ भरी पड़ी हैं, दूसरी ओर उस भाषा में नाटक का 'कार्य' उमड़ रहा है। भाषा-प्रयोग के ठीक विपरीत 'वेटिंग फॉर गोदो' नाटक की भाषा है। बेहद ठंडी भाषा। दो-तीन शब्दों से अधिक बड़े वाक्य ही नहीं हैं। जैसे भाषा में वही ठंडा इंतजार स्वयं आ बसा है। नाटक जहाँ से शुरू होता है, वहीं समाप्त हो जाता है—भाषा यहाँ बीच में गहरे ठंडे पानी की पतली धार की तरह थमी हुई है—ऐसा लगता है 'वेटिंग फार गोदो' की भाषा पढ़कर और सुनकर।

'वेकेट', 'आइनेस्को' और 'पिन्टर' आदि समसामयिक नाटककारों ने भाषा-प्रयोग में किसी भी परम्परा और सिद्धान्त का पालन नहीं किया है। इनकी भाषा में विराम और टूटते हुए शब्दों के जो प्रयोग हुए हैं, उनसे उत्पन्न नाटकीयता उल्लेखनीय है।

## संगीत

अरस्तू के अनुसार यह पाँचवाँ तत्त्व नाटक में उन सब श्रव्य तत्त्वों को समेटकर चलता है, जो नाट्य-प्रदर्शन में प्रकट होते हैं। ध्वनि-प्रभाव, भाषा-बोली, बोलने तथा उच्चारण के लयात्मक ढंग को भी संगीत में ही ग्रहण किया

गया है। साथ ही संगीत में ध्वनि और वाणी के स्वरक, बलाघात, घनत्व, लय, स्वराघात, तारत्व आदि सभी पक्ष आते हैं।

आधुनिक नाटककारों ने, विशेषकर यथार्थवादी और प्रकृतवादी लेखकों ने संगीत को अनावश्यक समझकर इसे दूर रखा है। यद्यपि 'फिल्म' ने इस क्षेत्र में भी इसका खूब उपयोग किया है। फिर भी 'चेखव', 'ओ नील', 'टैनीसी विलियम', 'मैटर लिंक', 'लोर्का' और 'ओकेसी' ने संगीत का काफी इस्तेमाल किया है। अभिव्यंजनावादी नाटकों में संगीत-तत्त्व का काफी कलात्मक प्रयोग होता रहा है।

नाटक में सब तरह के बोले जाने शब्दों, किए गए स्वरों और आवाजों आदि का सीधा सम्बन्ध संगीत-तत्त्व से है। यहाँ तक कि दृश्य में आरोह-अवरोह तथा आर्केस्ट्रेशन भी संगीत के ही अन्तर्गत है।

## दृश्यता

प्रस्तुतिकरण के जितने दृश्य तत्त्व हैं—जैसे दृश्य-सज्जा, प्रकाश, वस्त्र-विन्यास, रूप-विन्यास, रंग-व्यापार और मंच पर अभिनेता का गतिसंचार—ये सब दृश्यता के अन्तर्गत आते हैं।

दृश्यता के तत्त्व में हर युग के रंगमंच में बड़ी विभिन्नता रही है। ग्रीक, एलिजाबीथन, 'नोह प्लेज ऑफ जापान', तथा काबुकी मंच पर दृश्य-विधान की व्यवस्था न थी। फिर भी इन सारे रंगमंच-प्रकारों में यह दृश्यता एक दूसरे कला-स्तर से समादृत हुई है। इन रंगमंच-प्रकारों में उल्लेखनीय दृश्य-प्रधान वस्त्र-विन्यास होता था। ग्रीक ड्रामा का वह कोरस, और काबुकी में नृत्य, एलिजाबीथन मंच का वह पात्र-समूहन, वह दृश्यांकित गतिसंचार, यह सब वही दृश्यता ही थी—दर्शक को आकर्षित करने वाली।

रिनेसाँ के बाद जब रंगमंच के चरण में रंगद्वार का युग शुरू होता है, और मंच धीरे-धीरे 'पिक्चर फ्रेम' में बँधता गया, तब से दृश्यता के लिए मंच-सज्जा, रंग-दीपन पर बहुत बल दिया जाने लगा है।

•

# ड्रामा में संघर्ष की स्थिति

'ड्रामा' अपने समस्त प्रकारों में (दुखान्तकी, सुखान्तकी, 'मेलोड्रामा' और फार्स) सर्वथा किसी न किसी स्तर से संघर्ष की अन्त:प्रेरणा से उदित होता है। इस तरह 'ड्रामा' में संघर्ष का स्थान उतने ही महत्त्व और स्तर का है, जैसाकि संस्कृत रंगमंच में नाटक के अन्तर्गत रस का स्थान।

वस्तुत: पाश्चात्य रंगमंच में 'ड्रामा' का उदय और जन्म 'संघर्ष-तत्त्व' से ही है। दुखान्तकी में संघर्ष की यह स्थिति स्थूल और मानसिक दोनों स्तरों से विद्यमान रहती है। सुखान्तकी में दो विभिन्न शक्तियों के निजत्व से संघर्ष रहता है—स्त्री-पुरुष से संघर्ष, व्यक्ति-समाज से संघर्ष। दुखान्तकी में दया और भय के तत्त्व इसी संघर्ष के ही कारण उत्पन्न होते हैं। और सुखान्तकी में हास्य का मूल सार इसी संघर्ष से नि:सृत होता है। संघर्ष की इस संदर्भ में प्राय: दो स्थितियाँ होती हैं :

- बाह्य संघर्ष
- अन्त:संघर्ष

इसे क्रमश: बहिर्द्वन्द्व भी कह सकते हैं। पूर्णत: बाह्य-संघर्ष से ड्रामा का स्वरूप निर्मित होता है और उससे हमारा ध्यान सबसे पहले आकर्षित होता है। ड्रामा में वस्तुत: दो स्थूल शक्तियों का संघर्ष है, अर्थात् दो चरित्रों का पारस्परिक द्वन्द्व, दो मस्तिष्कों का संघर्ष, दो व्यक्तियों का संघर्ष और कुछ अज्ञात शक्तियों का भी संघर्ष इसमें मिला रहता है। इस व्यापक संघर्ष का प्रतीक है ग्रीक थियेटर का ड्रामा।

ड्रामा का बाह्य संघर्ष इसका एक आदिम सत्य है, विशेषकर दुखान्तकी में इस संघर्ष का सत्य समान रूप से सर्वत्र दिखाई देता है। इस बाह्य संघर्ष को स्थूल से सूक्ष्म बनाकर ड्रामा में प्रयोग करना एक बहुत बड़े ड्रामा-लेखक का कार्य है।

इसके विपरीत ड्रामा का अन्त:संघर्ष है। यह अन्त:संघर्ष अपेक्षाकृत आधुनिक ड्रामा की बहुत बड़ी सम्पत्ति है। और यह अन्त:संघर्ष दुखान्तकी की तो जैसे आत्मा ही है। ड्रामा में अन्त:संघर्ष का कलात्मक उदय पहली बार एलिज़ाबीथन ड्रामा में प्रकट हुआ—विशेषकर शेक्सपियर की शक्तिशाली लेखनी से।

अन्त:संघर्ष तथा बाह्य संघर्ष को अपना साधन बनाकर और उसकी शक्ति को, प्रभाव को अपने में आत्मसात करके अन्ततः दोनों को दुखान्तकी की आत्मा में परिणत कर देना। उदाहरण के लिए 'ओथेलो' में हम 'ओथेलो' और 'इआगो' के चरित्र द्वारा बाह्य संघर्ष पाते हैं, जिससे सर्वप्रथम ओथेलो ड्रामा के प्रति हममें तीव्र आकर्षण पैदा होता है। किन्तु इसके गहरे ओथेलो का अपना अन्त: संघर्ष है, जिसकी भावात्मक तीव्रता और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति से 'ओथेलो' संसार का एक महान 'ड्रामा' सिद्ध हुआ है। ठीक इसी तरह 'हैमलेट' में 'हैमलेट' और 'घोस्ट' तथा हैमलेट और क्लाडियस के बीच बाह्य संघर्ष है, किन्तु इस श्रेष्ठतम दुखान्तकी का स्तर स्वयं हैमलेट के मन और मस्तिष्क में विद्यमान है। 'किंग लियर' में बाह्य संघर्ष अत्यन्त स्पष्ट और स्थूल धरातल का है, किन्तु इसके ठीक विपरीत 'मैकबेथ' में यह बाह्य संघर्ष जसे समाप्त होकर केवल अन्त:संघर्ष में समाहित हो जाता है, और ड्रामा का सारा मूल्य मैकबेथ के हत्यारे मन-मस्तिष्क और उसके पूरे व्यक्तित्व से छनकर उदित होता है।

सुखान्तकी में ये दोनों प्रकार के संघर्ष अपने दूसरे स्तर से अन्य उद्देश्य के लिए व्यवहृत होते हैं, फलतः इनका प्रभाव और परिणाम दुखान्तकी से सर्वथा भिन्न होता है। सुखान्तकी प्रसंग में हास्य-विनोद का साधारणतम और स्पष्टतम उद्गम सूत्र है (थियेटर के क्षेत्र में) व्यक्ति अथवा पेशे का समाज से संघर्ष और वस्तुतः यह सब बाह्य संघर्ष के अन्तर्गत आता है।[1] इसमें अन्त:संघर्ष की स्थिति नहीं दीख पड़ती। यह सत्य भी है कि सुखान्तकी सहज साधारण चरित्रों को लेकर लिखी जाती है, और दुखान्तकी अन्तर्मुखी और संश्लिष्ट पात्रों को लेकर।

●

1. All Laughter is social in character and that it is fundamentally the reproof of a particular society to any eccentricity on the part of a single person or of a special class.

M. Bergson (Le Rive)

# दुखान्तकी

दुखान्तकी क्या है, इसकी आत्मा और मर्यादा क्या है, इसका विवेचन प्राचीनकाल के नाटकारों ने नहीं किया। यह कार्य सम्पन्न हुआ बाद के दार्शनिकों तथा तत्त्वज्ञानियों द्वारा। इन्होंने दुखान्तकी नाट्य-कृति के आधार से उसमें समाहित नाटकीय तत्त्वों के आधार से दुखान्तकी के कुछ मूलभूत सिद्धान्त ढूंढ़ निकाले और उनकी प्रकृति तथा मर्यादाओं का विश्लेषण किया।

तत्त्वज्ञानियों का पहला अन्वेषण दुखान्तकी की आत्मा को लेकर प्रारम्भ हुआ। प्रायः सभी परोक्ष-अपरोक्ष रूप से इस परिणाम पर पहुँचे कि दुखान्तकी की आत्मा करुणा है। बल्कि इसे हम यों भी कह सकते हैं कि दुखान्तकी और करुण रस दोनों साथ ही साथ रहते हैं।

'करुण रस' का जब प्रादुर्भाव होता है, तो उसके साथ-साथ मानव की अन्य अनभूतियाँ भी वही रस ग्रहण कर लेती हैं और हम तथा दुखी व्यक्ति एक ही वर्ग और श्रेणी में आ जाते हैं।

और भी जब हम किसी दैवी अथवा अलौकिक घटना तथा कृत्य द्वारा मनुष्य को पीड़ित, दुखी और त्रसित देखते हैं तो हममें दैवी शक्ति के प्रति एक भय तथा साथ ही मनुष्य के आधार से हममें अपनी हीनता का भाव जाग्रत होता है, तब हम हताश और अवाक् होकर उस दैवी अथवा अलौकिक घटना तथा कृत्य को देखते रह जाते हैं और हमारी ऐसी ही भावना में दुखान्तकी की आत्मा निहित रहती है।

## दुखान्तकी की आत्मा

सर्वप्रथम बहुत ही स्पष्ट रूप में 'हेगेल' ने दुखान्तकी की आत्मा की बात उठायी। उसने इसका विश्लेषण आगे दो भागों में किया। पहले भाग में हेगेल का सर्वथा धार्मिक दृष्टिकोण है तथा दूसरे में सौंदर्य-बोध का दृष्टिकोण। उसके विचार और विश्लेषण से दुखान्तकी का मूलाधार दोष अथवा अनैतिकता है और उसका सीधा सम्बन्ध मनुष्य के आचरण से है। वस्तुतः दुखान्तकी की



पश्चात्य रंगमंच—ड्रामा : मृत्यु, संघर्ष ग्रौर त्रासदी का प्रतीक । प्राचीन रंगमंच : ग्रीक त्रासदी का मुखौटा



शेक्सपियर रंगमंच : किंग्लियर
जान गिलगुड किंग्लियर की भूमिका में, वेश-भूषा,
रूप-सज्जा नोगिडकी द्वारा

आत्मा इन अनैतिक दोषों का हल ढूँढ़ती है। इसी हल को ढूँढ़ने में हमें ईश्वर के आचरण की भी मीमांसा करनी पड़ती है, तथा ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्ध में हमें अपने विचार प्रदर्शित करने पड़ते हैं।

## दुखान्तकी की आत्मा के दो मूल तत्त्व

पहला तत्त्व ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्ध का अस्पष्ट रहस्य अर्थात् जब हम दुखान्तकी देखते हैं तो आदि से अन्त तक यही रहस्यपूर्ण समस्या हमारे सामने रहती है कि ईश्वर तथा भाग्य के हाथ कितने अंशों तक मनुष्य विवश और बेचारा है। फिर भी मनुष्य के अपने प्रयत्नों तथा कृत्यों से अपने आपको सरलता से पराजित हुआ नहीं सिद्ध कर पाता। उसके बीच हम कार्य का कारण से, तथा कर्त्ता का घटनाओं से और इन सब के ऊपर कर्त्ता और परोक्ष शक्ति से सम्बन्ध जानना चाहते हैं। पर हम उस रहस्यभेद को जानने में सफल नहीं होते। वस्तुतः इसी रहस्यभाव में ही दुखान्तकी की आत्मा छिपी रहती है।

दूसरा तत्त्व : दुखान्तकी की आत्मा, सिद्धान्त रूप से यह स्वीकार करके चलती है कि इस संसार में अनैतिकता है। जबकि दूसरी ओर मनुष्य अपने आप को नैतिक आचरण वाला प्राणी समझकर चलता है और उस दिशा में प्रयत्न-शील भी वह रहता है। तभी उसका उद्देश्य अनैतिक जीवन से नैतिक जीवन-यापन की ओर रहता है। इस नैतिक प्राणी मनुष्य में जब कोई दोष अथवा अनैतिक अवगुण समा जाता है तो दुखान्तकी की आत्मा इसी दोष, इसी अवगुण को अपने विकास-रूप में देखती चलती है। तथा इसी प्रक्रिया में दुखान्तकी की आत्मा की प्रतिष्ठा होती है।

व्यावहारिकता और सिद्धान्त दोनों दृष्टियों से मृत्यु ही दुखान्तकी का मूलाधार है। यह मृत्यु शारीरिक ही हो, यह कोई विशेष बात नहीं। यह मृत्यु मानसिक और आध्यात्मिक भी हो सकती है।

## भारतीय दृष्टिकोण से इसका अन्तर और तात्त्विक समीक्षा

दुखान्तकी पश्चिमी देशों की उपलब्धि है। 'ड्रामा' की कल्पना ही प्रारम्भ में उन्होंने दुखान्तकी के ही रूप में की। इसके ठीक विपरीत प्राचीन भारत ने

नाटक की कल्पना 'रस' और 'आनन्द' के रूप में की। इसके कारण पूर्व और पश्चिम के जीवनगत तथा दर्शनगत विभिन्न दृष्टिकोणों में छिपे हैं। हमारा आदि से ही यह विश्वास रहा है कि ब्रह्म—ईश्वर सर्वत्र है। वह सर्वशक्तिमान और कृपालु है। यह जीवन उसी ब्रह्म की लीला है : फलतः इसका अंत आनन्द-मय है। ठीक इसके विपरीत ग्रीक लोगों में उस तरह का कोई सर्वशक्तिमान् ईश्वर न था। न ऐसे ईश्वर की कोई कल्पना ही थी। केवल छोटे-छोटे देवता, जिनके स्तर मनुष्य से थोड़े ही ऊपर थे। अतएव वहाँ जीवन संघर्ष और कष्ट का ही क्षेत्र था। वहाँ का जीवन लीला न था, वरन् जैसा यथार्थ बाहर से था, वही सब तरह से सत्य था। वहाँ मुख्य न देवता थे, न मनुष्य, वरन् मनुष्य का भाग्य, अंधी किस्मत। क्योंकि बाइबिल के अनुसार मनुष्य इस पृथ्वी पर (स्वर्ग से पतित होकर) पाप वश (सिन) आया है। उसने बदकिस्मती से जो वर्जित फल खा लिया था। मनष्य कितना भी अच्छा क्यों न हो, भाग्य का विधान उसे निश्चय ही चूर-चूर करेगा। यह नियति की बात है। 'ओडिपस' राजा में मूलतः अपना कोई दोष नहीं है। वह आदि से अंत तक एक तरह से अनजान, निष्पाप है, पर भाग्य ने उसे कितना अपार कष्ट दिया। क्योंकि उसके ऊपर कोई सर्वशक्तिमान्, कृपालु ईश्वर न था। यहाँ तो केवल मनुष्य है, और उसके सिर पर केवल उसकी नियति है, बस। ग्रीक जीवन-धारा का इस दिशा में यह पहलू उल्लेखनीय है।

दूसरी धारा इस दिशा में 'ज्यूज' की थी : कष्ट भोगने की। आगे चलकर इस धारा को चरमसीमा मिली क्रिश्चियन दर्शन से। विश्वास और विचार इन दोनों स्तरों से इस धारणा ने दुखान्तकी को कला और दर्शन दोनों क्षेत्रों में प्रतिष्ठित किया। 'क्राइस्ट' हमारे लिये, इस संसार के लिये कितना अपार कष्ट सह रहा है। हमारा जीवन सुखमय हो जाय, हमें त्रास और कष्ट से मुक्ति मिल जाय, इसके लिये क्राइस्ट अपार संघर्ष सह रहा है। हमारे पापों से हमें मुक्ति दिलाने के लिये वह सदा प्रयत्नशील है। इस तरह यह 'क्राइस्ट' एक असाधारण करुणानायक है। दुखान्तकी में नायकत्व के पीछे उसी 'क्राइस्ट' के चरित्र की वह अमिट छाप है बल्कि पश्चिम में दुखान्तकी का नायक एक तरह से 'क्राइस्ट' का ही प्रतीक है। आगे चलकर इस क्षेत्र में नियति के कानून से बड़ा प्रभु की कृपा का सत्य वहाँ विकसित हुआ। शेक्सपियर पर क्रिश्चियन की इसी विकसित-भावधारणा से लेखक की सारी दृष्टि, उस की शक्ति का सारा बल चरित्र पर है, भाग्य (फेट) पर उतना नहीं। भाग्य की सत्ता को वह स्वीकार नहीं कर सका पर उससे बड़ी शक्ति प्रभु की कृपा है। यह शेक्सपियर की इस दिशा में बहुत बड़ी देन है। ईश्वर यहाँ सर्वशक्तिमान है, पर शैतान और प्रेत भी साथ ही साथ सत्य है। ईश्वर और शैत ान, जीवन और मृत्यु यह विराट्

संघर्ष शेक्सपियर की दुखान्ताकी की आत्मा है। 'मैकबेथ' असाधारण चरित्र का नायक है। असाधारण शक्ति-सम्पन्न सैनिक, विश्वासपात्र, राजा का परम प्रिय पात्र, ईश्वर के अंश से परिपूर्ण। पर इसकी भेंट एक बार प्रेतिनी शक्ति, अंधशक्ति अर्थात् मृत्युपक्ष से होती है। क्योंकि इस अंधशक्ति ने 'मैकबेथ' की सहज वृत्ति को पहचान लिया कि यह अति महत्वाकाँक्षी है। तभी वह अंधशक्ति की पकड़ में आ गया। और इस अंधशक्ति से यदि एक बार भी उसकी पवित्र आत्मा पराजित हुई तो वह सदा के लिये पराजित हुई। अब मैकबेथ अपने ईश्वर-अंश से रहित अकेला मैकबेथ है—अकेला मनुष्य। दूसरा सत्य यह कि मैकेबेथ या 'हैमलेट' के भीतर कहीं न कहीं वह अंधशक्ति, वह प्रेतात्मा बैठी थी, तभी तो उन्हें वह शैतान दिखाई पड़ा। 'मैकबेथ' के भीतर बैठा हुआ उसका शैतान कितना निर्मम और अंधशक्ति वाला था। 'बैंकों' का 'मृत्यु दृश्य' कितना छोटा, अपराधपूर्ण और अमानवीय है। बेचारा बुड्ढा राजा और वह भी 'मैकबेथ' का अतिथि-पूज्य मेहमान। आगे 'डंकन' की ही हत्या से उसका जी नहीं भरता, वह डंकन के बच्चों तथा उसके मित्रों को भी मारना चाहता है। सत्य है—यदि मनुष्य ने एक बार भी सत्य को छोड़ा, ईश्वर को छोड़ा तो वह सत्य, वह ईश्वर उस मनुष्य को सदा छोड़ता चला जायगा।

पश्चिम में दुखान्तकी की यह दृष्टि दर्शन के स्तर से चाहे जो रही हो, पर नाट्यकला और उसकी शक्ति-सम्पन्नता की दृष्टि से अनन्य रही है। इस दृष्टि ने पश्चिम को यथार्थ मार्ग दिया—संघर्ष दिया, ड्रामा का प्राण। तभी पश्चिम में 'ओडिपस रेक्स' से लेकर 'हैमलेट', 'मैकबेथ', 'डॉल्स हाउस', 'सीगल', 'मौर्निंग, बिकम्स एलकट्रा,' 'डैथ ऑफ सेल्समैन' और 'वेटिंग फार गोदो' तक महान, महत्वपूर्ण नाट्यकृतियों की एक अबाध परम्परा चली आ रही है। कहीं भी कोई व्यवधान नहीं। क्योंकि दुखान्तकी की दृष्टि में यथार्थ जीवन था। इसके मूल में जीवन-संघर्ष था। नाट्य-धारा और जीवन-धारा का सुन्दर मेल—एकात्म भाव।

प्राचीन भारत में इसकी सामाजिकता उक्त विचार-दर्शन के विरुद्ध रही। इसके दो कारण रहे हैं। पहला तो दुखान्तकी से जन-जीवन में ईश्वर के प्रति अश्रद्धा और ईश्वरीय न्याय और अनुशासन के प्रति अविश्वास, उपेक्षा उत्पन्न होने का भय था। दूसरे संस्कृत नाटककारों ने आध्यात्मिक दृष्टि से मृत्यु की महत्ता बिलकुल ही खत्म कर दी—क्योंकि उनके विचार से मृत्यु जीवन का अन्त न कर आध्यात्मिक और ईश्वरीय जीवन के द्वार खोलती है। अतएव इस विचार-दर्शन से दुखान्तकी का मूलाधार ही खत्म हो जाता है।

संस्कृत नाटकों में अनेक नाटक अपने विकास-क्रम और रूप में दुखान्तकी

के समीप पहुँच जाते हैं, किन्तु वे कभी भी मृत्यु का आधार नहीं लेते। 'मृच्छ-कटिकम्' में वसन्तसेना की उपवन में मृत्युवत घटना इसका सुन्दर उदाहरण है। फिर संस्कृत नाटक—जो सुखान्तकी के अनन्य उदाहरण हैं, उनमें दुखान्तकी के कतिपय तत्त्व क्यों व्यवहृत होते हैं। इसका बहुत ही सुन्दर उत्तर अरविन्द ने दिया है। उन्होंने कहा है कि जैसे वर्षा के लिये काले बादलों की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार संस्कृत नाटकों में रस और आनन्द के लिये काले बादलों सदृश कभी-कभी उन घटनाओं और कार्यों की प्रतिष्ठा होती है। पर चूँकि यह सारा ब्रह्माण्ड, यह सारा आकाश ब्रह्ममय है, इसलिये उन बादलों के भीतर भी वही रस, वही आनन्द, सम्पूर्ण आनन्द, सुख और रस में अपना सह-योग देते हैं। वे दुखान्तकी अंश सिर्फ उतने ही अंश में व्यवहृत होते हैं। ताकि आनन्द के प्रकाश में तीव्रता आये—जैसे वर्षा के बाद का नया सूरज।

## दुखान्तकी के तत्त्व

अरस्तू ने जो दुखान्तकी की परिभाषा दी है, वह तात्त्विक दृष्टि से अपने-आप में सम्पूर्ण है। उसमें इसके सारे तत्त्वों की ओर समुचित संकेत है। उसने दुखान्तकी की परिभाषा देते हुए कहा कि—'दुखान्तकी किसी गंभीर, महत्वपूर्ण तथा विशाल कार्य का रंगस्थल पर अनुकरण है, जो भाषा के माध्यम से सौन्दर्य-युक्त तथा आनन्दमयी बनकर भय और करुणा द्वारा हमारी मानवीय भाव-नाओं को अति परिमार्जित करती है। सम्पूर्ण कार्य से तात्पर्य ऐसे कार्य से है जिसका आदि, मध्य और अन्त पूर्णरूप से सुगठित रहे और विशाल कार्य से तात्पर्य ऐसे ढाँचे से है जो न बहुत बड़ा हो, न बहुत छोटा।'

अरस्तू की उक्त परिभाषा में निश्चय ही दुखान्तकी के सारे तत्त्वों का संकेत है। फिर अरस्तू ने दुखान्तकी के छः विशेष तत्त्व गिनाये हैं :

- कहानी
- पात्र
- भाषा
- विचार
- दृश्यत्व
- संगीत।

कहानी से अरस्तू का तात्पर्य उस 'मिथ' अथवा गाथा से है, जिसे दर्शक भलीभाँति जानते है। और वस्तु से उसका तात्पर्य उस तत्त्व से है, जो केवल

नाटककार की चेतना में विद्यमान रहता है। अरस्तू के अनुसार यही वस्तु दुखान्तकी की आत्मा है। अरस्तू ने और उसके आगे के विचारकों ने इन तत्त्वों पर बड़ी गहराई से विचार किया है। ठीक जैसे हमारे यहाँ 'नाट्य-शास्त्र' में 'नाट्य' के एक-एक तत्त्व का विशद एवं गहन विश्लेषण। कारण यह कि इन विचारकों की दृष्टि ने अन्ततोगत्वा दुखान्तकी के एकान्त प्रभाव पर अपने अत्यन्त मौलिक और विद्वत्तापूर्ण विचार प्रकट किये हैं। 'पोएटिक्स' में अरस्तू ने मुख्य रूप से यह बताया है कि दुखान्तकी का समुचित प्रभाव दर्शक पर तभी पड़ता है जबकि :

○ दोनों प्रतिद्वन्द्वी पक्ष, मित्र, रिश्तेदार अथवा एक-दूसरे के हितचिन्तक हों, पर परस्पर शत्रु हों।

○ दोनों पक्षों का सम्बन्ध स्पष्ट प्रकट न होकर प्रायः गुप्त और रहस्यमय हो।

इसके प्रकाश में सिद्धान्त-दुखान्तकी की वस्तु के दो स्पष्ट विभाग हो जाते हैं। पहला, वस्तु की आपद्-काल तक प्रगति और दूसरा उसकी जटिलता का समाधान।

मानव-हृदय पर दुखान्तकी के प्रभाव का आधार अरस्तू ने चिकित्सा-शास्त्र का सिद्धान्त माना है। जैसे वैद्यक में 'रेचक' औषधियों से शरीर में किसी बढ़े हुए अति तत्त्व का शमन करके रोगी को रोग-मुक्त किया जाता है, उसी प्रकार दुखान्तकी के प्रभाव में भी यही सत्य है। इस सत्य को अरस्तू ने 'केथारसिस' अथवा 'रेचन' ही कहा है। यह आत्मशुद्धि नाटककार दर्शक में करुणा का संचार करके करता है। शायद तभी दुखान्तकी का मूलाधार ही है नायक का पतन। और वह नायक कोई खलनायक नहीं, बल्कि श्रेष्ठ नायक जिसमें सिद्धान्ततः निम्नलिखित गुण निश्चय ही हैं :

○ श्रेष्ठता
○ भाषा-प्रयोग की स्वाभाविकता
○ मानवता
○ समरूपता आदि।

ऐसे नायक का पतन निश्चय ही दर्शक को करुणा से भर देगा। क्योंकि दुखान्तकी के नायक में जब वह प्रत्यक्ष देखता है कि नायक तो सर्वथा श्रेष्ठ, चरित्रवान्, नैतिक, निष्पक्ष तथा विचारशील है, फिर भी उसका पतन हुआ— यह सत्य साधारण नहीं है दर्शक के लिये। पर प्रश्न उठता है कि तब ऐसे नायक का पतन आखिर होता ही क्यों है। वस्तुतः दुखान्तकी का सर्वगुण-सम्पन्न नायक निश्चय ही कहीं न कहीं किसी एक मूलभूत दोष का शिकार होता है। उसका यह एकांगी दोष ही उसके अन्य समस्त गुणों तथा विशेषताओं

के बावजूद उसे पतन देता है। यह दोष उसके विचारों में हो सकता है, मन में अथवा शरीर में हो सकता है, बल्कि उसकी चित्त-वृत्ति में हो सकता है, पर यह उसके लिये भयानक सिद्ध होता है। इससे सिर्फ उसी का पतन नहीं होता, बल्कि उसका सारा परिवार, हितू-मित्र सभी इस दोष-ज्वाला में स्वाहा हो जाते हैं। दुखान्तकी के अन्त में स्वभावतः दर्शक पर तभी दो प्रभाव पड़ते हैं :

- करुणा का
- भय का

दुखान्तकी में ऐसे प्रभाव लाने के पीछे रोमीय नाटककारों का उद्देश्य क्या था ? वस्तुतः दुखान्तकी की रचना और प्रस्तुतिकरण का मूलाधार धार्मिक पूजा थी। यह धार्मिक पूजा 'डायोनिसियस' और 'एपोलो' के त्योहारों से बंधी हुई थी। 'डायोनिसियस' के त्योहारों में लालसा, उन्मत्तता, आवेश और प्रगल्भता की अति से जीवन में अनाचार और विश्रृंखलता आने का भय था। इसके विपरीत एपोलो के त्योहार की मर्यादा, आदर्शवादिता तथा आध्यात्मिकता की अति से जीवन में नीरसता और ऊब आने का डर था। फलतः इन दोनों दिशाओं की 'अति' का परिमार्जन तथा संशोधन यूनान देश के प्रत्येक लेखक का उद्देश्य हो गया—विशेषकर यूनानी दुखान्तकी-लेखकों का। उनकी दुखान्तकी-कला और उसके समूचे चरित्र-चित्रण के पीछे, तथा अंत में छिपी नैतिकता का यही चरम लक्ष्य था। जब दर्शक श्रेष्ठ आदर्श नायकों का पतन देख चुकते हैं और भाग्य-चक्र की शक्ति का अनुभव कर लेते हैं तो उन्हें जीवन के प्रति एक तटस्थ दृष्टिकोण प्राप्त हो जाता है। तब वे न नास्तिक बनकर ईश्वरीय विधान के प्रति अपनी अश्रद्धा दिखलाते हैं, न वे जीवन के रागरंग में इतना डूब ही जाते हैं कि वे सब कुछ भूल जाएँ। भाग्य की शक्ति उन्हें स्मरण रहे और यह भी याद रहे कि नायक के पीछे स्वयं नायक की चरित्रगत निर्बलता ही कारण रही है। एक ओर भाग्य का चक्र दूसरी ओर नायक के चरित्र का एकांगी दोष—यह है नायक के पतन का कारण और इसी विचार-दृष्टि में दुखान्तकी की शक्ति और उसकी रहस्यमयी लोकप्रियता छिपी है।

## दुखान्तकी का स्वरूप और प्रकृति

दुखान्तकी अति गंभीरता का नाट्य रूप है। इसका विषय मनुष्य की गहन समस्या और सर्वदेशीय मूल्य हैं। मनुष्य की नियति, उसका लक्ष्य, पुण्य-पाप, न्याय-अपराध तथा इंसान की वे निर्मम और कटु यथार्थ परिस्थितियाँ, जिनसे

उसका सतत संग्राम छिड़ा हुआ है। दुखान्तकी का धरातल कभी भी हल्का, छोटा नहीं होता। इसका लक्ष्य मनोरंजन भी नहीं है। इसकी प्रकृति ही है मूल्यगत संघर्षों में मनुष्य के उस गंभीर सत्य की तालाश, जो उसकी नियति है, न्याय है और यथार्थ है। चरित्र की भव्यता, गहनता दुखान्तकी में ही संभव है।

दुखान्तकी सम्पूर्ण नाट्यकृति होती है—आदि, मध्य और अंत से युक्त, और ये तीनों भाग उसकी आत्मा से इस तरह अखंड होते हैं, जैसे शब्द में अर्थ, जीवन में दर्द और करुणा। दया, भय और करुणा ये मूल स्वर हैं दुखान्तकी के।

इसी लिये दुखान्तकी को असामान्य (रेयर) कहा गया है। विशेष दर्द-संघर्ष उसकी अपेक्षायें हैं। और इन सबसे ऊपर बहुत ही विशेष दृष्टिवान्, मेधावी और महान् नाटककार ही वास्तविक श्रेष्ठ दुखान्तकी लिख सकता है। हर युग-काल में अनेक नाटककारों ने दुखान्तकी की रचना की है, पर श्रेष्ठ दुखान्तकी बहुत कम ही बन सके हैं।

ग्रीस और एलिजाबीथन इंगलैण्ड इन दोनों देश-कालों में दुखान्तकी के लिये जितनी परिस्थितियाँ थीं, उनमें निश्चय ही दोनों काल स्वर्णयुग के थे। काल की चेतना उच्च शिखर पर थी। मानव-आत्मा विजय को छू रही थी, और संस्कृति मानव संस्कार के परिष्कार में लगी थी। बड़े प्रश्न, बड़े मूल्यगत संघर्ष समाज में उठे थे। इसी चेतना की अभिव्यक्ति है ग्रीक और शेक्सपियर दुखान्तकी। इन दुखान्तकियों का जीवन है कि मनुष्य महत्वपूर्ण है, गरिमामय है, आत्मसम्मान और गौरव ही उसका जीवन-तत्त्व है। अन्यथा सब बेकार है, तुच्छ है। मृत्यु समान है। सोफोक्लीज, शेक्सपियर, ओ नील, इब्सन, चेखव और आर्थर मिलर तक की दुखान्तकियों से इसकी प्रकृति के विषय में मूलतः तीन बातें स्पष्ट होती हैं :

(क) मनुष्य की गरिमा

(ख) उसकी इच्छाशक्ति और संकल्पशक्ति की स्वाधीनता। और इसके प्रति उसका दायित्व।

(ग) मनुष्य से भी ऊपर किसी सत्ता या अतिमानव शक्ति का अस्तित्व। जिस युग और काल में मनुष्य का यह दर्शन-बोध टूटता है, वहाँ श्रेष्ठ दुखान्तकी की रचना कठिन है। इंग्लैण्ड के 'रैस्टोरेशन' काल में दुखान्तकी की परम्परा अक्षुण्ण रखने की बड़ी कोशिशें की गयीं। 'ओटवे' और 'हिरोइक ड्रामा' लिखने की एक शैली ही स्वीकार की गयी। 'ड्राइडन' ने कुछ महत्वपूर्ण प्रयत्न भी किए, किन्तु युग की चेतना के अनुरूप ही उस काल की ऐसी रचना में बाह्य जीवन के तथ्यों का आग्रह ज्यादा दीख पड़ा, जीवन के प्रति वह दर्शनमयी दृष्टि वहाँ जैसे गायब थी।

दुखान्तकी का विषय महत् संघर्ष है, उल्लेखनीय प्रश्न, जिसने हर युग में

मनुष्य को संत्रस्त किया है—तोड़ा और मथा है ।

दुखान्तकी का भावक्षेत्र यद्यपि उत्पीड़न, दुख और मृत्यु है, फिर भी अपने लक्ष्य में यह सर्जनात्मक है, सार्थक है । मृत्यु का मूल्य नहीं है, वह तो अवश्यम्भावी है, महत्वपूर्ण है, मृत्यु के पूर्व तक मनुष्य के संघर्ष । तभी दुखान्तकी को 'ईमानदार' कहा गया है। दुखान्तकी का नाटककार जीवन का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है । उसमें इतनी ईमानदारी और साहस होता है कि वह जीवन की सारी पराजय, हताशा और करुणा को भोगता है ।

जाँ अनुई ने 'एन्टीगान' में नये कोरस के स्वर में दुखान्तकी की सहज प्रकृति को स्पर्श किया है ।

Tragedy is clean, it is firm, it is flawless. It has nothing to do with melodrama—with wicked villains, persecuted maidens. avengers, gleam of hope and eleventh hour repentance···

दुखान्तकी का नायक अरस्तू के मूल्यांकन का प्रिय विषय रहा है । इसकी कल्पना करने के पूर्व उसने तीन प्रकार के नायकों की अवधारणा की उपेक्षा की है : कि अच्छा आदमी इस रूप में दिखाया जाय कि वह सुख से दुख में गुजर रहा है—कि बुरा आदमी दुख और उत्पीड़न से सुख में जा रहा है—कि एक बहुत ही बुरा आदमी सुख से दुख में गिर रहा है ।

वस्तुतः इन तीनों स्थितियों में दया, भय और करुणा की वह निष्पत्ति सम्भव नहीं है, जो दुखान्तकी के लिए सर्वथा अपेक्षित है ।

दुखान्तकी का नायक अच्छा व्यक्ति होता है, किन्तु वह कुछ आधारभूत त्रुटियों और सीमाओं के बीच में रहता है । उसका मूल दोष उसकी निर्णय-दृष्टि में रहता है, अन्यथा वह निर्दोष रहता है । अतः जब उसपर भयानक विपत्ति पड़ती है और वह उत्पीड़न का पात्र बनता है, तब हमें उसके प्रति दया उभरती है । जूलियस सीजर, एंटीगोन, एलक्ट्रा, ओडिपस, ओथेलो और किंग लियर ऐसे ही नायक हैं ।

दुखान्तकी न्याय दिखाने के लिए नहीं होती । बल्कि इसके विपरीत वह इस सत्य को दिखाती है कि जीवन कितने अन्यायों से भरा पड़ा है ।

दुखान्तकी का नायक इस अर्थ में बहुत उल्लेखनीय है कि वह कर्म का प्रतीक होता है । उसमें विश्वमानव के मूलभूत तत्त्व होते हैं । वह भाग्य से, नियति से और संयोग से संघर्ष लेता है । अन्त तक जूझता है और उत्पीड़ित होता है, तथा वह अपने अथक युद्ध से यह सिद्ध करता है कि मनुष्य महान् है, अजय है, गरिमामय है ।

## मेलोड्रामा (अतिनाटक)

दुखान्तकी जीवनगत मूल्यों की परीक्षा करती है, और मेलोड्रामा 'कार्य' को मूलाधार बनाकर चलता है। दुखान्तकी अच्छे-बुरे, सत्-असत् के बीच जीवन की सच्चाई को पकड़ती है। मेलोड्रामा उसके प्रति महज भावुकता प्रकट करता है और इस तरह जीवन से दूर भागता है। दुखान्तकी जीवन के, मनुष्य के सनातन आन्तरिक—आध्यात्मिक प्रश्नों को छेड़ती है, और मेलोड्रामा क्षणिक, स्थूल तथा प्रत्यक्ष के प्रति आग्रह करता है। दुखान्तकी भय और दया की निष्पत्ति करती है, मेलोड्रामा कौतूहल, आँसू, घबराहट और नफरत पैदा करता है। फिर भी प्रभाव-सम्पन्नता की दृष्टि से मेलोड्रामा कभी दुखान्तकी से भी श्रेष्ठ सिद्ध होता है। किन्तु यह सत्य है कि ड्रामा के ये दोनों प्रकार एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। दोनों में चरित्रगत अन्तर है।

गत दो सौ वर्षों में अनेक नाटककारों ने मुख्यतः मध्यवर्ग के दर्शकों के लिए गम्भीर नाटक लिखे हैं, इस तरह उच्चवर्ग के स्थान पर मध्यवर्ग ने रंगमंच पर अपना अधिकार और संरक्षण प्राप्त किया है। इस नये दर्शक-वर्ग ने स्वभावतः वही पसन्द किया है, जो न दुखान्तकी हो, न साहित्यिक नाटक। किन्तु वर्ग की परितुष्टि हेतु इस नये नाटक में 'अतिकार्य' और 'भावुकता' के तत्त्व अधिक आये हैं। इसे ही प्रायः मिश्रान्तकी भी कहा गया है।

'मेलोड्रामा' शब्द में दो ग्रीक शब्द हैं जिनके अर्थ हैं संगीत और ड्रामा। कभी यह शब्द 'ओपेरा' के लिए समानार्थी था। 'मेलोड्रामा' का संगीत से पहला सम्बन्ध इटली और फ्रांस में हुआ। जर्मनी में मेलोड्रामा का आशय उस कथांश से लिया गया जो आर्केस्ट्रा की संगत से बोला जाय। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में 'मेलोड्रामा' पेन्टोमाइम, संगीत और कथोपकथन के योग से रचित प्रदर्शन को कहते थे। 'कमीदिया फ्रांसे' और इटेलियन सुखान्तकी नाटककारों ने इस नाट्य-रूप को विकास देने में सम्भवतः काफी योग दिया है।

वस्तुतः मेलोड्रामा के तत्त्व प्राचीन नाटकों में ही यत्र-तत्र पर्याप्त रूप में मिलते हैं। 'इरोपडीज' 'सीनेका', इसके बहुत ही नज़दीक हैं। एलिजाबीथन नाटकों में जो 'रक्त-दुखान्तकी' थे, वे सब मेलोड्रामा ही के एक रूप थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के उपरान्त मेलोड्रामा को कुछ यथार्थवादी और तर्कसंगत रूप दिया गया। इसका एक मुख्य कारण था, यथार्थवाद का विशेषकर प्रदर्शन-शिल्प में अभूतपूर्व विकास। मंच-सज्जा, प्रकाश और ध्वनि-प्रभाव आदि से इस नाट्य-रूप को पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा विश्वस्त रूप मिला।

मेलोड्रामा की ही चरम परिणति 'फिल्म' माध्यम है। पश्चिम में उन्नीसवीं शताब्दी एक तरह से मेलोड्रामा का उत्कर्ष-काल था। इसके उपरान्त आधुनिक

रंगमंच में भी यह गंभीर मनोरंजक नाटक के नाम पर काफी लोकप्रिय हुआ। 'लेडीज इन रिटायरमेंट', 'डैड यन्ड' और 'लिटिल फाक्सेज' आदि नाटक इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। इन आधुनिक नाटकों पर मेलोड्रामा के तत्त्व काफी उल्लेखनीय हैं।

●

## सुखान्तकी

सुखान्तकी के विषय वे भावनाएँ तथा विचार नहीं हो सकते जिनके द्वारा हमको दुख अथवा पीड़ा का अनुभव हो। इसके साथ ही इस नाट्य-प्रकार में उन परिस्थितियों तथा कार्यों की सम्भावना नहीं की जा सकती, जिनके फल-स्वरूप उसमें हत्या, हिंसा और त्रास की गुन्जाइश हो।

जिस प्रकार दुखान्तकी का महत्वपूर्ण स्वरूप रोमीय दुखान्तकी है, ठीक उसी प्रकार रोमीय सुखान्तकी का भी सत्य है। निश्चय ही रोमीय सुखान्तकी रोम के समग्र जीवन और उसके पूरे परिवेश का दर्पण है। रोम के निवासियों का विश्वास, उनके जीवन का रागरंग और उनके सांस्कृतिक तत्त्व इन सब का प्रति-बिम्ब रोमीय सुखान्तकी में प्राप्त होता है। इस तरह से नाट्य का यह रूप दुखान्तकी की अपेक्षा कहीं अधिक जीवन का परिचयाक और उसका प्रतिनिधि स्वरूप है।

इसका उदय आचरण सम्बन्धी शिक्षा तथा संस्कार-दान के हेतु भी माना जाता है, जिससे कि दर्शक समाज और राष्ट्र के श्रेष्ठ नागरिक बन सकें, ताकि वे अपने पर और अपने से बाहर दूसरे लोगों पर अपनी शक्ति से शासन कर सकें। इसके लिये रोमीय सुखान्तकी-लेखकों के सामने धार्मिक अथवा आध्यात्मिक विषय नहीं आये थे। वे ऐसी सुखान्तकी को चुनते थे जो समाज के लिये अत्यन्त व्यावहारिक और लाभप्रद हो। 'वैकाइड्स' नामक सुखान्तकी में नाटककारों के लिये कुछ नाट्य-विषय और नियम बताये गये हैं, जिनमें पहला है—'युवाओं की त्रुटियों और उन्मत्त भावों का अत्यधिक निराकरण न करो, वे कुछ दिनों बाद अपने आप ठीक हो जायेंगी। दूसरा है :

अपराधी को अधिक निन्दित न करो, उसे थोड़ा-बहुत मौका दोषपूर्ण जीवन से सीखने का अवश्य दो।'

इन विषय-सूत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि रोमीय सुखान्तकी का स्वर अत्यन्त सामाजिक और व्यावहारिक होता है। इसमें मुख्यत : वेश्यायें, दरबारी लोग, मुफ्तखोर, आलसी, पाखंडी, घमंडी, ढोंगी, शेखी वाले और अपनी ही बात ओटने वाले चरित्रों की प्रतिष्ठा होती है। यह दृष्टान्त रोमीय सुखान्तकी से है।

## रोमीय सुखान्तकी शैली

शिल्प ग्रौर शैली के ग्रन्तर्गत पहला क्रम था कथावस्तु का चुनाव। इसमें मुख्यत: षड्यन्त्रपूर्ण हस्यास्पद घटनाग्रों का ही विधान होता था। ऐसी घटनाग्रों तथा कार्यों के बीच युवा ग्रौर युवतियों को डालकर वे उनकी बुद्धि, उनके कार्य-कौशल तथा उनके चरित्र का संशोधन ग्रौर परिष्कार किया करते थे।

इस कथावस्तु के ग्राधार से सुखान्तकी में कामुकता ही प्रधान रहा करती थी। स्त्री-पुरुष के संबंध में किसी भी पवित्रता का ग्रंश तक नहीं मिलता था। इस विषय तथा भावना के फलस्वरूप इस सुखान्तकी का वातावरण भी ग्रसभ्य ग्रौर दु:शील रहता था।

रोमीय सुखान्तकी-लेखक ग्रपने राष्ट्रीय सिद्धान्त ग्रौर सामाजिक ग्राचरण के पालन में प्राय: वृद्ध ग्रौर ग्रनुभवी पुरुष पात्रों को ही दायित्व देते हैं।

'टेरेन्स' ग्रौर 'प्लाट्स' रोम के प्रसिद्ध सुखान्तकी लेखक हुए हैं।

## शक्सपियर की सुखान्तकी शैली

इस क्षेत्र के रोमीय नाटकों की शैली का तनिक भी प्रभाव इंगलिस्तान के सुखान्तकी लेखकों ने स्वीकार नहीं किया। इसका कारण सौन्दर्यबोध के ग्रतिरिक्त कुछ ग्रौर भी था, जिससे कि ग्रंग्रेजी की सुखान्तकी की ग्रात्मा रोमीय से सर्वथा प्रतिकूल सिद्ध हुई।

इसके साथ मध्ययुग के ग्रागमन ने साहित्य को इतने ग्रपार विषय दिये कि रोमीय सीमित-संकीर्ण विषय बहुत पीछे छूट गये। तब तक ग्रंग्रेजी-लेखकों का इतना मानसिक विस्तार भी हुग्रा कि वे ग्रपने विषय, दृष्टिकोण में सुखान्तकी के साथ बहुत ग्रागे निकल गये। ग्रौर उन्होंने ग्रपनी सुखान्तकी की धारणा ग्रपने मौलिक ढंग से विकसित की। शेक्सपियर का नाम इस प्रसंग में बहुत ही महत्वपूर्ण है।

शेक्सपियर के सामने मध्ययुग ने ग्रपनी ग्रपार विषय-सम्पत्ति प्रस्तुत की। समाज में निम्नलिखित तत्त्वों को मुख्यता मिली :

(ग्र) राज्य-भक्ति
(ग्रा) स्वामि-भक्ति
(इ) प्रेम
(ई) बलिदान

एलिजाबेथ के स्वर्णयुग ने एक तरह से सौंदर्य-बोध को ही परिवर्तित कर दिया, फलस्वरूप इसने साहित्य के प्रतिमान में एक आमूल परिवर्तन ला खड़ा किया जिससे शेक्सपियर की सुखान्तकी अपने विषय और शिल्प दोनों में अपूर्व सिद्ध हुई। चुने हुए कथावस्तु के अन्तस्तल में आनन्द, सुख और सन्तोष की लहर वह गयी। इसमें पहली बार हर्ष और सन्तोष का प्रकाश फूटा। इस उत्थान में कल्पना-तत्त्व तथा यथार्थ जीवन के खंडों का अद्‌भुत समन्वय दीख पड़ा। शेक्सपियर की यथार्थ दृष्टि ने इस क्षेत्र में जहाँ जीवन की विषमता, उसकी कटुता तथा उसकी अव्यवस्था का चित्र दिया, वहाँ उसकी कल्पना-शक्ति ने उसकी कला के माध्यम से उस जगत की झाँकी प्रस्तुत की जहाँ प्रेम, श्रद्धा और उत्तम आचरण का संसार था।

## शेक्सपियर की सुखान्तकी की प्रकृति

शेक्सपियर की सभी सुखान्तकियाँ रोमांचक हैं। उसने रोमनों की सुखान्तकी पद्धति को ही उलट दिया। शेक्सपियर के कथानक रोमनों की तरह षड्यन्त्र-पूर्ण, घटना-प्रधान न होकर पात्र-प्रधान हुए। स्वाभाविक आचार-विचार और दैनंदिन जीवन के भीतर से उसने जीवन का व्यंग्य चित्र, उपहास खंड और हास्य दृश्य दिए। शेक्सपियर के पात्र रोमीय लेखकों की तरह कठपुतली न होकर अपने अस्तित्व और सर्वत्र व्यक्तित्व के साथ उसकी सुखान्तकी में प्रतिष्ठित हुए। ये पात्र अपनी समूची सृष्टि और प्रवृत्ति में भावोद्रेक और सहानुभूति के प्रतीक सिद्ध हुए जिनका युग के सापेक्ष्य में अपना सुन्दर जगत दीख पड़ा, 'विशाल तथा शालीन मानव-हृदय, जो इस पार्थिव जगत की जड़ता से दूर, उसकी दुःशीलता से परे, एक देवी गुणों से पूर्ण, मानवता से सिक्त।'

एक और रोमीय सुखान्तकी का दुःशील, हिंसक, लोलुप, अधोमुखी जड़-जीवन, दूसरी ओर शेक्सपियर की सुखान्तकी आध्यात्मिक, स्नेहसिक्त, मानवता-पूर्ण रसमय जीवन।

दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर। दोनों में जीवन-स्तर और मानव-मूल्यों का अलग-अलग रूप। एक जैसे बर्बर अंधयुग का प्रतीक और दूसरा स्वर्णयुग का विहान।

शेक्सपियर ने अपनी सुखान्तकियों में जो कथावस्तुएँ चुनी हैं, उनका मूलाधार प्रायः इटली और फ्रांस की प्राचीन तथा ऐतिहासिक गाथाएँ हैं। इन प्राचीन गाथाओं में मध्ययुग के सांस्कृतिक जीवन का चित्रपट मिलता है। सामाजिक

और पारिवारिक जीवन की झाँकी देखने को मिलती है।

"बैलेनटाइन की वीरता, दृढ़ता, सहानुभूति तथा मैत्री और प्रोटियस के प्रति जूलिया का अनन्य प्रेम तथा उसकी विजय।

(टू जेन्टिलमैन ऑफ वेरोना)

आइज़ाबेल का अप्रतिम सौन्दर्य, तथा अपनी नैतिक शालीनता और मेरियाना का अटूट प्रेम।

(मेज़र फॉर मेजर)

हीरो की निष्कपटता तथा उसका स्नेह, वियेट्रिस की हास्यप्रियता और निष्ठा।

(मच एड एबाउट नथिंग)

फ्रांस की राजकुमारी का अनुपम सौन्दर्य तथा राज्य-पदाधिकारियों का अस्वाभाविक हठ, तत्पश्चात् प्रेम की अपूर्व विजय।

(लव्ज नेवर लास्ट)

पोर्शिया का शारीरिक तथा मानसिक सौन्दर्य, और पितृ-भक्ति; एन्टोनियों तथा वेसानियों की सफल मैत्री तथा प्रेम की विजय।

(द मर्चेन्ट ऑफ वेनिस)

राजलिन्ड का अनुपम सौन्दर्य, सहनशीलता तथा प्रेमनिष्ठा, सीलिया की कर्तव्य-परायणता, आरलैण्डो की वीरता तथा धैर्य, एडम की अपूर्व स्वामिभक्ति।

(ऐज़ यू लाइक इट)

वायला का अविरल स्नेह तथा स्वामिभक्ति, ओलीवीया की भ्रातृ-भक्ति तथा प्रेम, सर टोबी वेल्च तथा ऐण्ड्रू एग्यूचीक की रंगरेलियाँ।

(ट्वैल्फ्थ नाइट)

हेलना की पति-भक्ति, उसकी निष्ठा तथा उसकी विजय।

(आल इज़ वेल दैट एण्ड्स वेल)

इस तरह शेक्सपियर की सभी सुखान्तकियों में प्रेमोपासना ही मूलाधार है, जिसके ऊपर वह अपने स्वर्ण-युग की संस्कृति और प्रेम की अनुभूति का महल खड़ा करता है।

## सुखान्तकी के प्रकार

सुखान्तकी के जितने स्तर और प्रकार होते हैं, उतने नाटक के अन्य रूपकों में नहीं। लेकिन इसके प्रकारों को अलग-अलग बाँटकर देखना इसलिये कठिन

है कि नाटककारों ने मुक्त होकर प्राय: सुखान्तकी के विविध तत्त्वों को अपने नाटकों में खुलकर इस्तेमाल किया है। उदाहरण के लिये 'अरिस्टोफेन्स' ने अपनी सुखान्तकी में अश्लीलता के सारे रूपों के साथ-साथ शारीरिक असंगति के मज़ाक को मिलाया है—जबकि शारीरिक असंगति का सत्य वस्तुत: 'फार्स' का क्षेत्र है। इसके भी अलावा उसने अपनी सुखान्तकी में राजनीतिक और दार्शनिक लहरें भी उठायी हैं। इसी लिए इसकी सुखान्तकी को एक अलग प्रकार ही मान लिया गया है—'आरिस्टोफेनिक कामेडी'।

इसी तरह शेक्सपियर की सुखान्तकी का विभेद करना कठिन है। क्योंकि उसका सारा लेखन इतना विविध और मिश्रित है कि उसे प्रकारों में बाँधना कठिन है। फॉर्स, रोमान्टिक और 'डार्क' सुखान्तकी—तथा इन सब तत्त्वों को एक ही में मिला देना—यह उसकी चरम विशेषता थी।

प्रोफेसर एलन थामसेन[1] ने सुखान्तकी को (उसके मूल विधान को ध्यान में रखकर) इस तरह देखा है :

फॉर्स : १. उच्च सुखान्तकी
२. विचार, भाव की सुखान्तकी
३. चरित्र का ढुलमुलपन
४. उक्ति वैचित्र्य या हास्य
५. कथा-विधान
६. शारीरिक दुर्घटना या विसंगति
७. अश्लीलता

इसी प्रकार 'निकॉल'[2] ने सुखान्तकी को पाँच प्रकारों में देखा है :

१. फॉर्स
२. हास्यमय
३. रोमान्टिक (शेक्सपियर)
४. अभिसन्धि मय (इन्टीग)
५. आचरणवत सुखान्तकी (कामेडी आफ मैनर्स)

सुखान्तकी की स्थितियों से, उसके हास्य से दर्शक को कैसे सुख मिलता है—यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। हँसी का आनन्द वहीं उठाया जा सकता है, जहाँ बहुत ही गम्भीरता और वेग से भावनाओं का उद्रेक नहीं होता। ऐसी

---

1. Alan Reynolds Thampson, The Antomy of Drama, (Bevreley, University of California press, 1942)
2. Nical, The theory of Drama (New Yark, Thomoas Y. crowall Co. 1931)

भावना हँसी को सदैव मारने वाली होती है। फिर हँसी और भावना के सन्तुलन और अनुपात का प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाता है।

शेक्सपियर की रोमान्टिक सुखान्तकी, शैरिडन और गोल्डस्मिथ की भावुकतामय सुखान्तकी तथा वर्तमान काल की ऐसी अनेक रचनाओं में दर्शक की भावनाएँ चरित्र के साथ जुड़ती हैं। चरित्र के साथ दर्शक की पूरी समवेदना मिल जाती है। किन्तु इस तरह की सभी श्रेष्ठ-सफल सुखान्तकियों में वस्तुतः इसी भावना और हँसी का कलात्मक अनुपात और सन्तुलन सर्वत्र मिलता है।

दूसरी ओर वर्गसाँ के विचार हैं कि हँसी का सबसे बड़ा शत्रु भावना है, क्योंकि भावना सदैव बुद्धि को प्रभावित करती है, और जहाँ बुद्धि प्रभावित है, वहाँ हँसी का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी लिए हास्य के हेतु तटस्थ वस्तुपरकता आवश्यक है।

## सुखान्तकी का प्रदर्शन

सब नाट्य-प्रकारों की अपेक्षा सुखान्तकी का अभिनय रंग-प्रदर्शन का सत्य है। क्योंकि इसकी सम्पूर्णता किसी भी तरह लेखन में या पांडुलिपि में नहीं रहती, वरन् यह अपना सम्पूर्ण रूप रंग-प्रयोग में पाती है। अभिनेता की गति, उसकी वाक्चातुरी, उसका वस्त्र-विन्यास, समूहन और मंच-व्यापार, परिस्थिति का निर्माण और उसमें हास्य-सृष्टि, ये सब सुखान्तकी के प्रदर्शन में महत्वपूर्ण हैं।

हँसी सामाजिक वृत्ति है। यह छूत की बीमारी की तरह है। किन्तु शर्त यह है कि सामाजिक जरा हल्के मूड में हों। जब सहज प्रतिक्रिया दर्शक और अभिनेता के बीच चलती रहे।

प्रदर्शन-दृष्टि से सुखान्तकी रंग-कार्य का एक ढाँचा है, जिसमें जीवन फूँकता है, भरता है प्रदर्शक, अभिनेता और रंग-शिल्पी। किन्तु यह सारा प्रयोग-शिल्प बेकार है, यदि सुखान्तकी में सुखान्तकी की वास्तविकता—नाट्य स्थिति न हो, आत्मा न हो।

## प्रहसन

जैसे मेलोड्रामा (अतिनाटक) दुखान्तकी का एक स्वरूप है, ठीक उसी प्रकार

प्रहसन सुखान्तकी का। एक तरह से अति सुखान्तकी ही प्रहसन है। यों ड्रामा के स्वरूपों में प्रहसन बहुत ही प्राचीन रूप है, जिसका प्रभाव भी बहुत व्यापक है। प्रहसन का मूल उद्देश्य मनोरंजन है—वह भी हल्के स्तर से। इसका दर्शक पर प्रभाव अबाध और अनियन्त्रित रूप में पड़ता है। इसमें बौद्धिक और प्रतीकात्मक अर्थ और अभिप्रायः बहुत ही कम होता है।

प्रहसन विशुद्ध सामाजिक होता है, इसमें व्यक्ति नहीं आता, बल्कि समाज के पक्ष आते हैं, उसकी विषमतायें आती हैं। तभी प्रहसन इतना लोकप्रिय होता है, क्योंकि इसके हास्य का विषय व्यक्ति उतना नहीं होता, जितना कि उसका प्रतिनिधि होता है। प्रहसन की लोकप्रियता का एक दूसरा कारण यह भी है कि हम जीवन की विषमताओं, उसके संघर्षों तथा उसके दिन-प्रतिदिन के आदान-प्रदान से छुटकारा पाते हैं। चाहे वह छुटकारा कुछ ही देर का क्यों न हो। यह छुटकारा प्रहसन सबसे ज्यादा हमें देता है। क्योंकि इसका साधन ही है अबाध हँसी।

प्रहसन के विषय हल्के-फुल्के होते हैं। यह स्थिति के बाह्य कारण पर ही आधारित होता है। इसके विषय प्रायः होते हैं—होते रहे हैं :

मानसिक कुरूपता, असंगति और अनैतिकता
भ्रममूलक आशायें और विचार
निरर्थक वार्तालाप, अनर्गल संवाद
अशिष्टता, दुःशीलता तथा वितण्डावाद
प्रपंच-पूर्ण कार्य तथा अस्वाभाविक जीवन
मूर्खतापूर्ण कार्य
पाखंड तथा अस्वाभाविक कार्य
शारीरिक स्थूलता, विदूषक—भोजन-प्रियता

प्रहसन मूलतः परिस्थिति-जन्य होते हैं। इनकी कथावस्तु में कार्य और कारण की इतनी तीव्रता और वेग होता है कि इसमें न अभिनेता को कुछ सोचने-समझने की जरूरत होती है, न दर्शक को। कार्य और हँसी दोनों में जैसे तूफानी सम्बन्ध रहता है।

प्रहसन विशुद्ध प्रदर्शन का सत्य है। इसमें भी अभिनेता की प्रतिभा, उसकी सहज सृजन-शीलता ये दोनों तत्त्व महत्त्वपूर्ण हैं।

चैखव का 'दी मैरेज प्रपोजल', 'दी एनीवरसरी', गोल्डस्मिथ का 'शी स्टूप्स टू कान्कर', मोलियर का 'दी डाक्टर इन स्पाइट ऑफ हिमसेल्फ', शेक्सपियर का 'दी मेरी वाइब्स ऑफ विन्डसर' ये सब महत्त्वपूर्ण प्रहसन हैं।

# पाश्चात्य रंगमंच

## प्रस्तुतिकरण पक्ष

# पाश्चात्य रंगमंच : प्रस्तुतिकरण पक्ष

रंगमंच का कृतित्व पक्ष ड्रामा (नाटक) जिस तरह एक कला-रचना है, ठीक उसी तरह रंगमंच का दूसरा पक्ष प्रस्तुतिकरण भी एक स्वायत्त कला है। कला के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण है कि हर कला, प्रकृति का अनुकरण है। मनुष्य की प्रकृति की यथार्थ झाँकी और उसका प्रतिबिम्बन—यही मूलाधार है पश्चिम की कला-दृष्टि का। चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला, साहित्य और रंगमंच, इस तरह मनुष्य की प्रकृति का दर्पण है तथा उसके भावों-विचारों की अभिव्यक्ति है। उस अभिव्यक्ति की रचना-प्रक्रिया यह है कि रचनाकार, कलाकार, पूर्वस्मृतियों, चित्रों, भावों की संरचना करता है। उन्हें फिर से जीता है—कला-स्तर से स्मरण करके। स्मरण इसलिये कि कलाकार अपनी अनुभूति ही को तो फिर से रचता है। इस रचना में उसकी कल्पना, उसकी सृजन-वृत्ति जरूर मिली रहती है, किन्तु यह रचना मूलतः जीवन-धर्मी ही तो हुई। इस तरह कला, सृजनकर्ता द्वारा जीवन की व्याख्या है—और यह व्याख्या इस ढंग से है कि वह सब के द्वारा समझी-बूझी और जानी जा सके। इस समझने-बूझने और जानने का भी उद्देश्य यह है कि दर्शक, श्रोता और पाठक में 'भाव' पैदा हो सके। 'मैडोना' जैसा महान् चित्र, 'ताजमहल' जैसी महान् इमारत दर्शक के भीतर भाव ही तो पैदा करती है। इसी तरह 'बिथावन' की 'फिफ्थ सिम्फनी', 'वैग्नर' की 'तृप्ताँ' और 'आइसोल्डे' श्रोता के लिये भाव-श्रोत सिद्ध होते हैं। और ठीक इसी तरह 'ओडिपस', 'हैमलेट', 'सीगल', 'लोअर डैप्थ' जैसे नाटक दर्शक के भीतर गहन भाव और विचार पैदा करते हैं।

ये गहन भाव और विचार क्षणिक हों, ऐसी बात नहीं, ये दर्शक और श्रोता में सदा के लिये अमर हो सकते हैं। वास्तविक-सम्पूर्ण कलाकृति की यही भूमिका है। यही स्तर है। कलाकृति से प्राप्त भाव और दृष्टि, मनुष्य में वह अन्तर्दृष्टि पैदा करती है कि वह जीवन और जगत को उसके वास्तविक अर्थ और प्रसंग में देखना शुरू करता है। हर दर्शक और श्रोता की यह भावनात्मक प्रतिक्रिया एक-दूसरे से अलग और भिन्न हो सकती है। यह सब उसके संस्कार और सौन्दर्य-बोध पर निर्भर करता है।

रंगमंच की प्रस्तुतिकरण-कला से दर्शक और श्रोता में वह बड़ा भाव और

विचार उद्भूत करना, इस सत्य का मूलाधार है कि नाटक में व्याप्त भाव और विचार को प्रस्तुतिकरण कला के माध्यम से सम्प्रेषित करना ।

इस सम्प्रेषण के लिये, बल्कि इस रचना के लिये कलाकार पहले मूल विषय-वस्तु के प्रति अपनी अवधारणा निश्चित करता है । फिर उस अवधारणा को कला-माध्यम से व्यक्त करने के लिये वह उसकी शिल्पविधि का सहारा लेता है । इस तरह कला-रचना निम्नलिखित तत्त्वों से सम्पूर्ण होती है :

अवधारणा
शिल्पविधि
अन्विति
संगता
आग्रह
अनुपात
गहनता
भावदशा
लक्ष्य

भाव और शिल्प का समन्वय

पश्चिम के रंगमंच में, प्रस्तुतिकरण पक्ष से इन तत्त्वों के समन्वित विन्दु पर जो महत् कला खड़ी होती है, उसके व्यक्तित्वधारी का नाम है—निर्देशक अथवा प्रस्तुतकर्ता ।

## निर्देशक

पश्चिम के रंगमंच-इतिहास और उसकी परम्परा में निर्देशक के व्यक्तित्व को बड़ा ही निश्चित और उल्लेखनीय स्थान प्राप्त है । उसे पश्चिम के रंगमंच में रचनाकार और व्याख्याकार दोनों का पद एक साथ मिला है ।

और ये दोनों पद एक साथ अन्य किसी भी कलाकार को नहीं मिल सकते । क्योंकि कलाकार या तो केवल सृजनकर्ता होता है—जैसे 'कम्पोजर', 'मूर्तिकार', 'चित्रकार' और 'लेखक' । या तो वह केवल व्याख्याकार 'विवेचक' जैसे गायक, वादक, अभिनेता, रंगशिल्पी आदि—जो मूलतः अपनी स्वतन्त्र सृजन-चेतना से रचना न कर, एक रचित कलाकृति की पुनर्रचना करते हैं—उसे फिर से प्रकट करते हैं ।

निर्देशक के इस मूल्यवान् व्यक्तित्व का उदय, आधुनिक रंगमंच की

देन है। प्राचीन समय में, अर्थात् ग्रीक रंगमंच में निर्देशक का आदि रूप था 'कोरेगियस' जिसका कार्य था 'कोरस' को प्रशिक्षण देना। इस प्रशिक्षण में 'कोरेगियस' कोरस को गति-संचार, समूहन, नृत्यवत गतियाँ, मुद्रायें, आदि ही नहीं बताता था, बल्कि वह उन्हें नाटक का मूल विचार, संघर्ष-भाव, भावबोध तथा विवेचन भी बताता था, ताकि 'कोरस' के अभिनय से दृश्य के अनुसार हजारों दर्शक एक साथ भय, त्रास और आँसुओं में भीग जायँ। आज के निर्देशक व्यक्तित्व के प्रसंग में यही 'कोरेगियस' ही संभवतः उस युग का निर्देशक था।

सैकड़ों वर्षों तक इसी क्रम रूप से प्रस्तुतिकरण चलता रहा। फ्रेंच कलासिकल स्कूल ने अपने नाटक में स्वगतकथन के विकास-क्रम में परस्पर दो पात्रों के बीच (दो बेंचों पर) लम्बे कथोपकथनों को ग्रहण किया। इसके प्रदर्शन के लिये उन्होंने वाक्-प्रशिक्षण की प्रतिष्ठा की।

फिर 'गोथे' तथा अन्य कई नाटककारों ने रंगमंच में यथार्थ की प्रतिष्ठा की और उसके प्रति आग्रह किया; विशेषकर प्रस्तुतिकरण क्षेत्र में। आगे यथार्थ को स्थान मिला। मंच पर दो 'बेंचों' की जगह एक ओर एक सोफा आया, तथा दूसरी ओर तीन कुर्सियों के साथ एक छोटी मेज।

प्रस्तुतिकरण क्षेत्र में, 'गार्डन क्रेग' का आगमन निर्देशन-कला के उदय में एक अभूतपूर्व घटना है। 'क्रेग' ने प्रस्तुतिकरण को कला का रूप दिया, तथा उसने उसे एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में स्वीकार किया। नाट्य-प्रदर्शन में, मंच-विधान, रंग-दीपन, वस्त्र और रूप-विन्यास—इन सभी को उसने यथार्थ कला के रूप में प्रतिष्ठित किया। और तभी से रंगमंच-कला एक स्वायत्त कला के रूप में स्वीकार कर ली गयी। यहीं से पश्चिम के रंगमंच में आधुनिक निर्देशन का उदय होता है।

रंगमंच के इतिहास में (आधुनिक युग से पूर्व) प्रदर्शन की अनेक समस्याओं को बिभिन्न ढंग से हल किया गया है। जैसे मध्ययुगीन रंगमंच में विशाल मंच-विधान तथा तथ्यपूर्ण रंग-शिल्प के लिये पूरा का पूरा एक संगठन, इसके दायित्व का वहन करता था। एलिजाबीथन रंगमंच में—सम्पूर्ण व्यावसायिक कम्पनियों में निर्देशन का यह कार्य अभिनेता और नाटककार दोनों मिलकर सम्हालते थे। रंगमंच के शेष प्रबंध-कार्य, मैनेजर के हाथ में रहते थे। 'हैमलेट' में हैमलेट स्वयं अपने अभिनेताओं को प्रदर्शन के लिये प्रशिक्षण और निर्देशन देता है, इस तथ्य के पीछे उस काल के 'ग्लोब थियेटर' का यह उदाहरण काफी पर्याप्त है कि अभिनेता और नाटककार ही उस युग में निर्देशक का कार्य सम्हालते

थे। 'मोलियर' (नाटककार) ने स्वयं सतरहवीं शताब्दी में अपनी मंडली के साथ बारह वर्षों तक नाट्य-प्रदर्शन का सारा कार्य संचालित किया है। 'हाँकने के लिये अभिनेता एक विचित्र प्रकार का जानवर है' मोलियर की यह प्रसिद्ध उक्ति 'निर्देशक' के ही व्यक्तित्व की ओर ज्वलंत संकेत है।

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में 'डेविट गैरिक' और 'विलियम मेकरेडी' जैसे महान् अभिनेताओं ने नाट्य-प्रदर्शन को एक संगठित रूप देने का प्रयत्न किया; फिर भी आधुनिक युग से पूर्व, जब तक कि निर्देशक के व्यक्तित्व का उदय नहीं हुआ, नाट्य-प्रदर्शन का कार्य, परम्परा के ही सहारे ज्यादा चलता था।

## अभिनेता और अभिनय

रंगमंच का जीवन्त माध्यम और शक्ति अभिनेता है, जो अपनी अभिनय-कला से नाटक के आधार पर दर्शक-समाज को बाँध लेता है। अभिनेता की रचना और व्याख्या रंगमंच को जीवन्त रूप देती है। अभिनयात्मिका वृत्ति—जो रंगमंच की अनन्य शक्ति है, इसका मूल यही अभिनेता है।

अभिनय-कला आदिम है। इसकी परम्परा शाश्वत है; और हर युग में (आधुनिक युग के पूर्व तक) अभिनेता अपने ही काल से बँधा है। पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व का ग्रीक अभिनेता कितनी विभिन्न भूमिकाओं को अदा करता था। उसके वस्त्र, उसके मुखौटे, उसकी अभिनय-कला ग्रीक रंगमंच से कितनी सापेक्ष्यता से जुड़ी हुई थी। एलिजाबीथन रंगमंच में अभिनेता, स्त्री-पुरुष दोनों की भूमिकायें अदा करता था।

अभिनेता और उसकी अभिनय-कला में निम्नलिखित उपलब्धियाँ उल्लेखनीय हैं :

(क) अभिनेता रचना करता है।

(ख) अभिनेता व्याख्याकार भी है।

(ग) रंगमंच का यही वह जीवन्त माध्यम है, जिससे नाटक दर्शक को सम्प्रेषित होता है।

पाश्चात्य रंगमंच में, अभिनय-पद्धति के अन्तर्गत इसके पाँच अंग माने गये हैं :

- मुख-मुद्रा
- शरीर-मुद्रा

- गति
- वेग
- वाणी या वाक्

अभिनय के रूपों तथा उसके कुछ मूलभूत प्रकारों पर पश्चिम में बहुत बल दिया गया है। अभिनय-कला को वहाँ 'आर्केस्ट्रा' से कभी-कभी उपमा दी जाती है। अर्थात् अभिनय में लय, अनुपात तथा संगति पर बहुत आग्रह है। मंच पर प्रायः अनेक अभिनेता उपस्थित रहते हैं। उनमें से कभी दो अभिनेता कार्य-रत होते हैं, कभी एक ओर शेष महज खड़े रहते हैं। ऐसी स्थिति में जो अभिनेता मुख्य-रूप से अभिनय करता है, वह सक्रिय अभिनेता होता है, किन्तु शेष अभिनेता अक्रिय नहीं रहते। वे यद्यपि मौन रहते हैं, फिर भी वे अपनी शारीरिक चेष्टा, मुख की भाव-भंगी तथा गति से अपनी अनुक्रिया (करेस्पांडिग ऐक्शन) अवश्य प्रकट करते हैं। यह अभिनय—समर्थनात्मक, सहानुभूति-पूर्ण, तथा अनुक्रियात्मक—इन तीन प्रकारों का होता है।

इसी लिये अभिनय में सहयोग और प्रदर्शन में सामूहिक कला का विशेष महत्व है। इसी संदर्भ में व्यक्तिगत, सामूहिक तथा संगठित अभिनय-कला उल्लेखनीय है।

सामूहिक अभिनय भी तीन प्रकार का मिलता है। एक समवेत (कोरस) जिसमें अभिनेताओं का एक समूह एक साथ गाता-बजाता अभिनय करता है। दूसरा सामूहिक अभिनय, जिसमें एक दल के लोग एकत्र होकर विचार-विमर्ष, सम्मिलित कार्य तथा दल के रूप में कोई चेष्टा करते हैं। तीसरा प्रकार—भीड़ अथवा जन-सम्पर्क का होता है, जिसमें सामूहिकता के तत्त्व के साथ ही प्रत्येक अभिनेता को उसमें अपने व्यक्तिगत अभिनय का भी योग देना पड़ता है।

शरीर
वाणी और
भाव-प्रवणता

अभिनेता के महत् व्यक्तित्व में इस तीन प्रसाधनों को बहुत ही ज्यादा महत्व दिया गया है।

## मंच-सज्जा

अरस्तू ने दृश्यता को छठा और अन्तिम तत्त्व माना है। इस दृश्यता का

बहुत बड़ा आधार प्रदर्शन में यही मंच-सज्जा है। हर दर्शक 'नाटक देखने' जाता है—नाटक के लिये नहीं जाता। अतएव दृश्यत्व इसकी बहुत बड़ी विशेषता है—मूल है। ग्रीक, एलिजाबीथन और 'नोह' में जहाँ कि मंच स्थायी और अपनी सीमा-मर्यादा में एक दृश्य ही होता था, वहाँ भी नाटक के प्रदर्शन में, गति, मुद्रा, नृत्य, समूहन, वस्त्र-विन्यास और रूप-विन्यास में दृश्यत्व पर कितना आग्रह रहता था।

आधुनिक युग के पूर्व तक मंच-सज्जा के संदर्भ में प्रायः दो उपलब्धियाँ सामने आती हैं :

(१) चित्रीय परम्परा (पिक्टोरियल ट्रेडीशन)

(२) दृश्य-सज्जाकार का व्यक्तित्व।

मंच की चित्रीय परम्परा में नाटकीय वातावरण का निर्माण इसकी परम विशेषता है। पश्चिम का मध्ययुगीन नाटक जिस मंच-सज्जा के साथ प्रस्तुत होता था, उसमें मंच-अलंकरण, मंच-प्रसाधन के प्रति कितने व्यापक और गहन रूप में याथातथ्य तत्त्व पर आग्रह रहता था, वह उस युग के रंगमंच की एक परम विशेषता है।

ऐतिहासिक रूप में मंच-सज्जा-कला का अपूर्व उदय 'रेनेसाँ' के बाद हुआ है। जिस वर्ष (१६१८ ई०) इटली के 'फारनेस थियेटर' में 'चित्रबंध द्वार' (प्रोसीनियम आर्च) की पहली बार प्रतिष्ठा हुई थी।

इसी रंगद्वार-परम्परा से मंच-सज्जा-कला के उदय का सारा इतिहास जुड़ा हुआ है। चित्रकला का सम्बन्ध मंच-सज्जा से गठित हुआ, तथा गहराई 'डेप्थ' तत्त्व की सृष्टि हुई। इसी के साथ ही मंच दृश्य में आयाम और परिप्रेक्ष्य (डाइमेन्शन एण्ड पर्स्पेक्टिव) की भी साकार कल्पना शुरू हुई। इसी उदय के साथ ही मंच-संगठन तथा उसके गहन शिल्प का व्यापार बढ़ा। सत्याभास के लिए प्रयत्न शुरू हुए तथा मंच-दृश्य का सारा व्यापार 'मैकेनिकल' दिशा की ओर विकसित हुआ

●

# प्रेक्षागृह तथा प्रस्तुतिकरण

रंगमंच के भौतिक पक्ष 'प्रेक्षागृह' ने नाट्य-लेखन से लेकर नाट्य-प्रदर्शन तक को प्रभावित किया है। उदाहरण के लिए एलीजाबीथन मंच के उन्मुक्त प्लेटफार्म तथा धरातली मंच ने शेक्सपियर तथा उसके काल के रंगमंच को अनन्त स्वतन्त्रता का भाव दिया। अनेक दृश्य, देश, काल में उसका नाटक पूर्ण विश्वास के साथ जीता-बढ़ता रहा। उसमें अनेक कक्षायें, घटनायें तथा महा-काव्योचित नाट्य-व्यापार होते रहे।

रंग-भवन का भीतरी पक्ष—रंगभूमि (स्टेज) और रंगशाला (ऑडीटोरियम) केवल रूप और आकार मात्र नहीं हैं, बल्कि यह एक जीवन्त कला है अपने आप में। इसी लिए इसे 'थियेटर आर्टीटेक्ट' रंग-स्थापत्य कला की मर्यादा मिली है।

रंगशाला के आकार-प्रकार से रंगभूमि का अनुपात, अपने प्रभाव से अत्यन्त उल्लेखनीय है। 'थियेटर आफ डायोनिसस' में दर्शक के बैठने का क्षेत्र-विस्तार उसके मंच-प्रकार को किस तरह प्रभावित करता है, तथा वे दोनों तत्त्व किस तरह नाट्य-लेखन और प्रदर्शन को प्रभावित करते हैं—यह एक मनोरंजक सत्य है।

रंग-स्थापत्य-कला को उसके सम्पूर्ण अर्थ में जानने के लिए हम यहाँ चार प्रतिनिधि (पूर्व आधुनिक) रंगभवनों (प्ले हाउसिस) की चर्चा करेंगे।

## ग्रीक प्रेक्षागृह

ग्रीक रंगमंच का क्रमशः उदय कर्मकांड, जादू-रहस्य से लेकर फिर ड्रामा तक हुआ। इसी के अनुरूप ग्रीक रंगभवन पहले नृत्य-परिधि, फिर पाँचवीं शताब्दी बी० सी० के बाद आर्केस्ट्रा-परिधि मूलक रंगभवन के रूप में निर्मित हुआ। ग्रीक नाटककार अपने युग के रंगभवन की भौतिक स्थिति से न केवल प्रभावित हुआ बल्कि उसने भी उसे विकसित किया। जैसे आर्केस्ट्रा परिधि में नाचते-गाते हुए 'कोरस' के बीच 'अस्काइलेस' ने एक दूसरे अभिनेता की संख्या बढ़ायी और 'सोफो-क्लीज' ने तीसरे पात्र की प्रतिष्ठा की। कोरस की संख्या में क्रमशः कमी और

अभिनेता (पात्र) की संख्या में वृद्धि हुई। इसका प्रभाव यह हुआ कि ग्रीक रंगस्थल में विशाल दर्शक-समूह के बैठने के लिए जो अस्थायी व्यवस्था थी, उसके स्थान पर पत्थर की स्थायी सीढ़ियाँ बनीं। इस तरह प्रेक्षालय और रंगभूमि (एक्टिंग एरिया) का स्थायी, महत सम्बन्ध स्थापित हुआ।

इस विशाल रंग-भवन का प्रभाव नाट्य-लेखन के साथ ही साथ स्वभावतः अभिनय-कला और प्रदर्शन-विधि पर पड़ा। अभिनय की मूल प्रवृत्ति में प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) कला पर अत्यधिक बल दिया गया। प्रदर्शन-शिल्प में महत् और उदात्त मुद्राओं, नृत्यवत गतियों और समूहन को विशेष महत्व मिला। सारा प्रदर्शन, इस तरह विशाल दर्शक-समूह को रंग में बाँधे रहने तथा उन्हें प्रभावित करने के लिए, विशेष रूप से रीतिबद्ध हुआ।

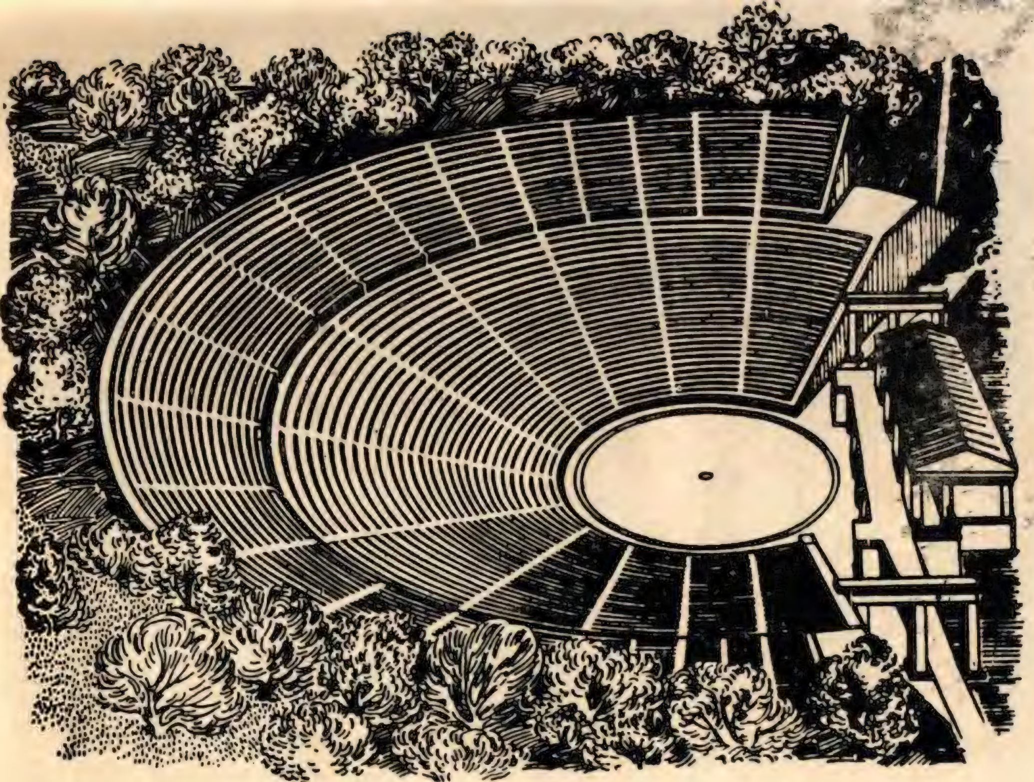
## मध्ययुगीन प्रेक्षागृह

पश्चिम में मध्ययुगीन नाटक पहले चर्च में प्रस्तुत होते थे। बाइबिल की कथाओं का तथ्य-पूर्ण प्रदर्शन इसकी परम विशेषता थी। लेकिन ज्यों-ज्यों नाटक की प्रकृति धर्मनिरपेक्ष होती गयी, त्यों-त्यों गिरजा और 'कैथिड्रल' से ड्रामा बाहर गया। बाहर आकर यह मध्ययुगीन ड्रामा, यद्यपि बड़ी-बड़ी व्यावसायिक कम्पनियों के हाथ में आया, किन्तु 'चर्च ड्रामा' के तीन प्रमुख तत्त्वों को इसने अपने स्वरूप में समन्वित और ग्रहण कर रखा :

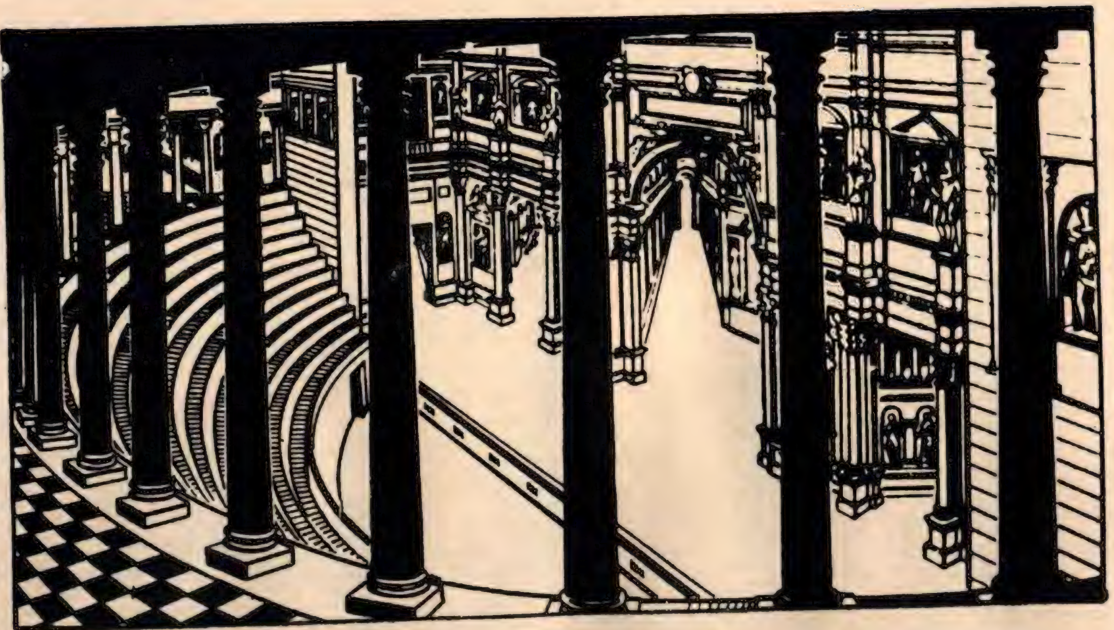
(१) नाटक का घटनात्मक स्वरूप
(२) निश्चित देश-स्थान का महत्त्व
(३) कार्य का एक स्थान से दूसरे स्थान पर गतिमान रहना।

एक देश-स्थान से दूसरे देश-स्थान के लिए, विभिन्न भवनों के बाह्य द्वार (याथातथ्य) तथा जल, सड़क, मैदान इन सभी स्थानों में नाटकीय व्यापार का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रदर्शित होना, मध्ययुगीन रंगमंच-प्रदर्शन की मूल विशेषता थी। ये सारे स्थान, स्थल, अपने भवन और स्थापत्य स्वरूप में मंच पर बाकायदा बनाए जाते थे।

'मोन्स' में १५०१ ई० में 'द मिस्ट्री ऑफ द पैशन' नाटक के प्रदर्शन में इस तरह सड़सठ भवनों के स्वरूप (देश-स्थान) मंच पर बनाये गये थे। इनके सामने सामान्य अभिनय-क्षेत्र होता था, जिसे 'प्लेट्रिड' या प्लेटफार्म कहते थे। भवनों से आकर अभिनेता इसी स्थल पर अभिनय करते थे। ये भवन-स्थान प्रायः एक ही पंक्ति में स्थित होते थे। उदाहरण के लिए 'बैलेन्सनीज' (१५४७)



ग्रीक थियेटर
(एपीडोरस के भग्नावशेष से पुनर्निर्माण)



ओलेम्पिक थियेटर (१५७९) इटली; इसकी परिदृश्यता उल्लेखनीय है।

का मंच, जो एक सौ तीस फुट लम्बा था और जिस पर अनेक भवन-द्वार बने थे—एक सिरे पर जहाँ नरक-स्थल था, दूसरी ओर जहाँ स्वर्ग-भवन। इन दोनों के बीच में गिरजा, कैथिड्रल, प्रीस्ट का घर, बाजार और जलखंड आदि।

मध्ययुगीन नाटक के प्रस्तुतिकरण में एक दूसरी शैली भी प्रचलित थी। जैसे नाट्य-दृश्यों को दर्शकों के सामने एक के बाद एक चौकियों पर लाना। अथवा 'वैगन' के सहारे उन्हें मंच पर स्थापित करना। दर्शक-वर्ग सुविधानुसार अलग-अलग स्थानों पर एकत्र होते और नाट्य चौकियाँ अपने दृश्यों सहित गतिमान होतीं। विशेषकर इंग्लैण्ड में यह रीति सबसे अधिक प्रसिद्धि के साथ प्रचलित थी—जहाँ सैकड़ों कस्बे जौर गाँव इन्हीं चौकियों वाले मंचदृश्य को प्रयोग में लाते थे।

मध्ययुगीन नाट्य-प्रदर्शन की कई परम्परायें उल्लेखनीय हैं। दर्शक और प्रस्तुतकर्त्ता एक दूसरे से बहुत नज़दीक थे। दोनों के बीच किसी तरह का व्यवधान नहीं था। गम्भीर नाट्य-सूत्र में प्रहसन के तत्त्व का मेल एक उल्लेखनीय बात थी। अभिनेता तथा दर्शक में और भी ज्यादा सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने के हेतु सामान्य अभिनेताओं का प्रदर्शन में उपस्थित रहना। अभिनय-क्षेत्र खूब विस्तृत होने के फलस्वरूप, नाटक का कार्य-व्यापार घटनाओं के प्रयोगों से भरा रहना, उसकी बहुत बड़ी विशेषता थी। कोई भी घटना या कार्य वर्णन द्वारा न प्रस्तुत होकर वस्तुतः अपने घटित रूप में मंच पर प्रस्तुत होता था। यही कारण है कि पश्चिम का मध्ययुगीन नाटक इतना अधिक घटना-धर्मी है और उस में भी कथा-वस्तु का संगठन इतना ज्यादा, और ढीला-ढाला है। गम्भीर और विदूषक अभिनेताओं का संगम, तथा कथानक के भीतर प्रत्यक्ष कार्य तथा घटनाओं से निर्मित छोटी-छोटी कहानियों का भरा रहना, इसकी रचना की बड़ी विशेषता थी।

## एलिजाबीथन रंगभवन (प्रेक्षागृह)

एलिजाबीथन रंग-भवन तथा उसकी रंग-स्थापत्य-कला को समझने के लिए विद्वान् लोग इस पर अनेक प्रभावों की चर्चा करते हैं। और इस निष्कर्ष पर आते हैं कि यह रंगमंच ही अनेक परम्पराओं की उपलब्धि है। मध्ययुगीन तथा 'रेनेसाँ' कला की परम्परा एक ओर है, तथा दूसरी ओर इसमें स्पैनिश, डच रंगमंच के तत्त्व मिले हैं। वस्तुतः एलिजाबीथन रंगभवन का भौतिक स्वरूप प्रत्यक्ष है। बाहर की दीवारें अस्सी वर्ग फिट की थीं। मंच तैंतालिस

फिट चौड़ा, और साढ़े सत्ताइस फिट गहरा था। इसमें तीन 'बाल्कनी' थीं, बारह, ग्यारह और नौ फिट ऊँची और बारह फिट चौड़ी। इस तरह इसका अभिनय-क्षेत्र परम उल्लेखनीय है। आज के आधुनिक मंच से प्रायः दूना बड़ा मंच। आगे दर्शकों की ओर बढ़ा हुआ, जिस पर दो खम्भों के सहारे 'मंडप' बना था।

एलिजाबीथन रंगभवन, जिसमें प्रायः व्यावसायिक, अव्यावसायिक, तथा स्थायी सभी नाट्य मंडलियाँ रहा करती थीं—तीन मंजिला इसका स्वरूप था। इसके भीतर एक बड़ा आँगन, तीन तरफ से बरामदों से घिरा हुआ। मुख्य-अभिनय-क्षेत्र—आँगन। इसी आँगन में बना हुआ विस्तृत मंच था। इसके पीछे दो और कक्ष-भाग थे, जो अतिरिक्त अभिनय क्षेत्र का कार्य करते थे। शेष बरामदे दर्शकों के लिए थे।

एलिजाबीथन मंच एक विस्तृत अभिनय-क्षेत्र था, जिस पर नाटक का सारा कार्य-व्यापार बिना किसी स्थान-दृश्य के होता था। स्थान-दृश्य, केवल कथोप-कथन से व्यंजित हो जाता था। जमीन के ऊपर का मंच, बाल्कनी-दृश्य अथवा युद्ध-दृश्य के लिए इस्तेमाल होता था।

वस्तुतः एलिजाबीथन रंगमंच में दृश्य के बाद दृश्य, बिना किसी विराम अथवा व्याघात के आते थे। मंच पर अलग-अलग अभिनय-क्षेत्र जो मुख्यतः अभिनेता के प्रवेश और प्रस्थान से निश्चित कर लिये जाते थे, इस मंच की विशालता और सृजनशीलता के बहुत बड़े उदाहरण थे।

मंच के विभिन्न भागों और अभिनय-क्षेत्रों के प्रयोग का उदाहरण हमें 'हैमलेट' के पहले अंक की रूपरेखा से प्रकट होता है :

पहला दृश्य : कैसिल के आगे एक प्लेटफार्म'
(अपर स्टेज, नीचे से चरित्रों का प्रवेश)

दूसरा दृश्य : 'कैसिल में एक कमरा'
(क्लाडियस और गर्ट्रयूड के लिए सिंहासन—इनर स्टेज—दरबार के लोग प्लेटफार्म पर)

तीसरा दृश्य : 'पलोनियस का घर'
(लर्टीज और ओफीलिया का पर्दे के भीतर से प्लेटफार्म पर प्रवेश) भीतरी दृश्य की व्यंजना के लिए पर्दा) प्लेटफार्म की बायीं ओर 'प्ले सीन'।)

चौथा दृश्य : 'द प्लेटफार्म'
(अपर स्टेज)

पाँचवाँ दृश्य : 'प्लेटफार्म का दूसरा भाग'
(इनर स्टेज—नीचे 'घोस्ट और हैमलेट के लिए)

फिट चौड़ा, और साढ़े सत्ताइस फिट गहरा था। इसमें तीन 'बालकनी' थीं, बारह, ग्यारह और नौ फिट ऊँची और बारह फिट चौड़ी। इस तरह इसका अभिनय-क्षेत्र परम उल्लेखनीय है। आज के आधुनिक मंच से प्रायः दूना बड़ा मंच। आगे दर्शकों की ओर बढ़ा हुआ, जिस पर दो खम्भों के सहारे 'मंडप' बना था।

एलिजाबीथन रंगभवन, जिसमें प्रायः व्यावसायिक, अव्यावसायिक, तथा स्थायी सभी नाट्य मंडलियाँ रहा करती थीं—तीन मंजिला इसका स्वरूप था। इसके भीतर एक बड़ा आँगन, तीन तरफ से बरामदों से घिरा हुआ। मुख्य-अभिनय-क्षेत्र—आँगन। इसी आँगन में बना हुआ विस्तृत मंच था। इसके पीछे दो और कक्ष-भाग थे, जो अतिरिक्त अभिनय क्षेत्र का कार्य करते थे। शेष बरामदे दर्शकों के लिए थे।

एलिजाबीथन मंच एक विस्तृत अभिनय-क्षेत्र था, जिस पर नाटक का सारा कार्य-व्यापार बिना किसी स्थान-दृश्य के होता था। स्थान-दृश्य, केवल कथोप-कथन से व्यंजित हो जाता था। जमीन के ऊपर का मंच, बालकनी-दृश्य अथवा युद्ध-दृश्य के लिए इस्तेमाल होता था।

वस्तुतः एलिजाबीथन रंगमंच में दृश्य के बाद दृश्य, बिना किसी विराम अथवा व्याघात के आते थे। मंच पर अलग-अलग अभिनय-क्षेत्र जो मुख्यतः अभिनेता के प्रवेश और प्रस्थान से निश्चित कर लिये जाते थे, इस मंच की विशालता और सृजनशीलता के बहुत बड़े उदाहरण थे।

मंच के विभिन्न भागों और अभिनय-क्षेत्रों के प्रयोग का उदाहरण हमें 'हैमलेट' के पहले अंक की रूपरेखा से प्रकट होता है :

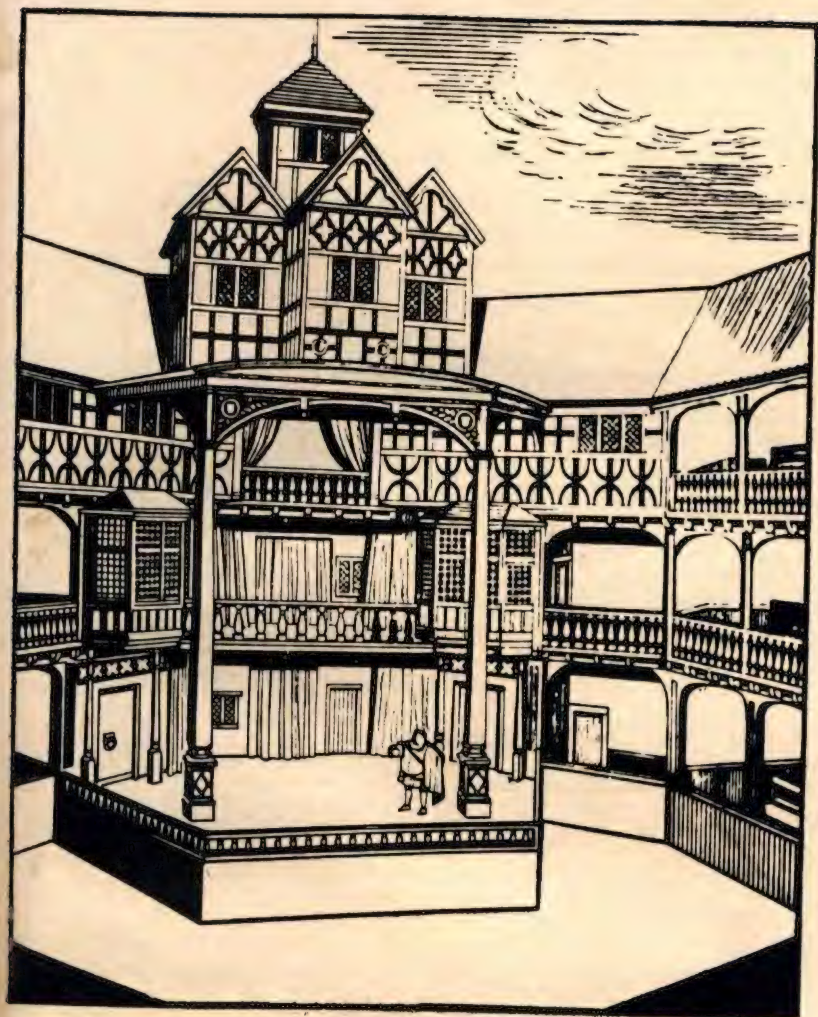
पहला दृश्य : कैसिल के आगे एक प्लेटफार्म'
(अपर स्टेज, नीचे से चरित्रों का प्रवेश)

दूसरा दृश्य : 'कैसिल में एक कमरा'
(क्लाडियस और गर्ट्यूड के लिए सिंहासन—इनर स्टेज—दरबार के लोग प्लेटफार्म पर)

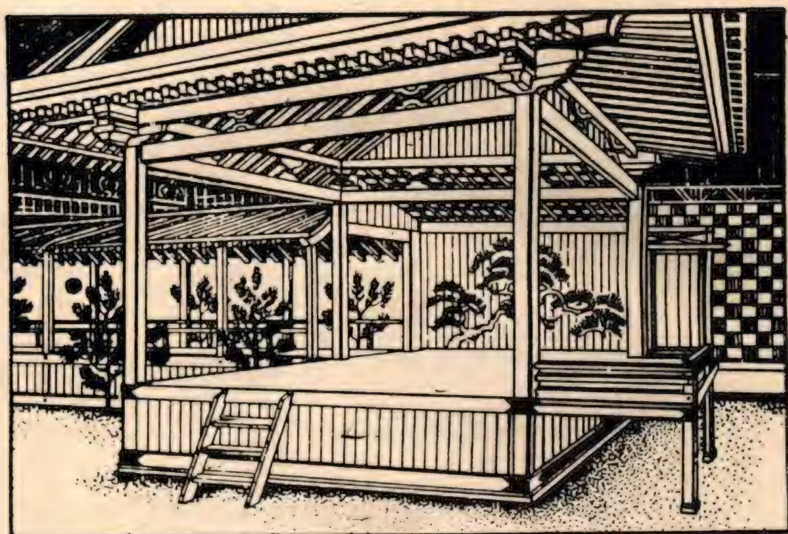
तीसरा दृश्य : 'पलोनियस का घर'
(लर्टीज और ओफीलिया का पर्दे के भीतर से प्लेटफार्म पर प्रवेश) भीतरी दृश्य की व्यंजना के लिए पर्दा) प्लेटफार्म की बायीं ओर 'प्ले सीन'।)

चौथा दृश्य : 'द प्लेटफार्म'
(अपर स्टेज)

पाँचवाँ दृश्य : 'प्लेटफार्म का दूसरा भाग'
(इनर स्टेज—नीचे 'घोस्ट और हैमलेट के लिए)



एलीजाबीथन थियेटर (ग्लोब थियेटर)



जापानी 'नोह' ड्रामा का मंच । ग्लोब थियेटर (मंच)
से इसकी समानता उल्लेखनीय है ।

घोस्ट का सँकरे द्वार से प्रस्थान, 'मरसिलस' और 'होरोशियो' के प्रवेश—से)

इस तरह एलीजाबीथन मंच पर नाटक की गति अबाध रहती है। मंच के तीन अभिनय-क्षेत्रों में तीन प्रकार के विभिन्न कार्य, दृश्य, बिना किसी विराम के चलते हैं। और जहाँ कार्य-व्यापार अथवा दृश्य में देश, काल, स्थान के बारे में किन्हीं विशेष तत्त्वों की आवश्यकता होती है, वहाँ नाटककार कथोपकथन में उसकी पूर्ति कर देता है। उदाहरण के लिए पहले अंक के पहले दृश्य में वातावरण की चित्रात्मकता।

## रेनेसाँ 'प्रोसीनियम आर्च मंच'

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में इटैलियन महाजनों का आकर्षण रंगमंच के प्रति बढ़ा, जिसके फलस्वरूप अनेक रंगभवन निर्मित हुए। इस तरह दो महत्वपूर्ण रेनेसाँ रंगभवनों की स्थापना हुई: पहला वेसेंजा में पेलेडियो द्वारा निर्मित (१५७६) 'ओलेम्पिक थियेटर' तथा दूसरा पार्मा में एल्यूती द्वारा निर्मित 'फार-नेस-थियेटर'।

'ओलेम्पिक थियेटर' प्राचीन 'रोमन थियेटर' का ही विकसित प्रतिरूप था, जिसमें मंच और प्रेक्षक-भूमि को दृश्यखचित किए हुए पाँच प्रवेश-द्वार थे—विशाल खम्भों से रूपायित, जहाँ से सामने मंच का सारा परिप्रेक्षित दृश्य प्रकट होता था।

विशाल 'रेनेसाँ थियेटर' की प्रकृति, दृश्यत्व और संगीत इन दो महान उपलब्धियों के बीच से ढूँढ़ी जा सकती थी।

# दर्शक

दर्शक के बिना किसी भी रंगमंच की कल्पना नहीं की जा सकती। अथवा यों कहें कि दर्शक के लिए ही रंगमंच के इतने बड़े व्यक्तित्व की कल्पना हुई। दर्शक के लिए मूलतः नाटक लिखे गए। रंग-भवन बनाये गये, दृश्य-सज्जा, रंग-शिल्प की रचना हुई। दर्शक के ही व्यक्तित्व ने हर युग में नाटक की प्रकृति और प्रदर्शन की पद्धति को प्रभावित किया।

नाटक एक सामाजिक और गतिशील कला है, ठीक जीवन की तरह जो हर समय विकासमान् और गतिशील रहता है।

रंगमंच में दर्शक व्यक्ति नहीं रहता, वह एक समूह अथवा समुदाय में बदल जाता है। क्योंकि सब एक ही भावना के अन्तर्गत आ जाते हैं। यों समाज में दर्शक अनेक वर्गों और कोटियों के होते हैं। ओपेरा, बैले, सुखान्तकी, दुखान्तकी, नोह (जापानी) और काबुकी—इन सभी प्रदर्शनों के लिए विभिन्न प्रकार के दर्शक-वर्ग होते हैं।

एक सामाजिक संस्था के रूप में रंगमंच ने कितने-कितने प्रकार से दर्शक को विमोहित किया है! कभी रंगमंच दर्शक के लिए मन्दिर था, कभी न्यायालय, कभी प्रचार-केन्द्र, कभी तफरीह की जगह, कभी फैशन परेड, कभी मिलन-भूमि, कभी बौद्धिक विलास का स्थान। अर्थात् रंगमंच को दर्शक ने जिस रूप में संरक्षण दिया, रंगमंच का व्यक्तित्व उसी के अनुरूप बना।

उदाहरण के लिए पश्चिम के रंगमंच में, ग्रीक, एलिजाबीथन और 'रेस्टोरेशन' रंगमंच के दर्शक-वर्ग एक दूसरे से कितने भिन्न थे!

ग्रीक रंगमंच के विषय में यह परम उल्लेखनीय है कि दर्शक के लिए वह रंगमंच एक धार्मिक संस्था थी। कम से कम वर्ष में दो नाट्य महोत्सव देखना उनके लिए एक पवित्र धर्म-कार्य था। एथेन्स का वह दर्शक-वर्ग जो 'डायोनिसस' (शहर के भाग) में एकत्रित होते थे, गम्भीर दुखान्तकी देखने के लिए, जीवन-जगत के विषय में उनकी रुचि कितनी गहरी रही होगी, इसकी कल्पना आज सहज ही की जा सकती है। वह एथेनियन दर्शक इस अर्थ में विचित्र था कि उसे जीने और सोचने में कितना गहन लगाव था। कला, दर्शन और तर्कशास्त्र—ये सब विषय उनके लिए महान् विचार का ही सत्य न था, वरन् ये सब विषय प्रत्यक्ष रूप से वे अपने जीवन में जीते भी थे। 'अस्काइलेस' की उदात्त

दुखान्तकी और अरिस्टोफेन की वह समृद्ध सुखान्तकी—ये दोनों चरम सीमायें एथेन्स के उस दर्शक-वर्ग की जीवनी-शक्ति का ही तो उदाहरण हैं।

ग्रीक दर्शक बड़े ही कलात्मक संस्कार के लोग थे। नाटक और प्रदर्शन की सारी छवियों और खूबियों को जानने परखने-वाले। भाषा, भाव और विचार इन तीनों स्तरों पर वे कितने सचेतन थे, वरना, ग्रीक दुखान्तकी की वैसी महान् रचना सम्भव न होती।

ग्रीक्स की ही तरह एलिजाबीथन दर्शक भी जीवन-जगत के प्रति परम उत्साही, और उसमें प्रत्यक्ष रुचि लेने वाले लोग थे। शेक्सपियर का वह युग, बौद्धिक और भावात्मक विकास की एक चरम सीमा का युग था। भाषा, काव्य, संगीत और राजनीति इन सभी क्षेत्रों में उनकी रुचि अद्भुत थी। उस युग ने मनुष्य को ईश्वर की सबसे अनुपम रचना के रूप में स्वीकार किया था। उनकी आस्था और संकल्प बड़ा था। इसी युग-चेतना और सौन्दर्य-बोध का दर्पण है, एलिजाबीथन रंगमंच। घृणा, अहंकार आत्मलिप्सा, अंधविश्वास, महत्वाकांक्षा, प्रेम, अविश्वास, स्वार्थ आदि इन सभी जीवनधर्मी महत प्रश्नों को जीवन के बीच से उस युग ने देखना-समझना चाहा था। शेक्सपियर ने अपने रंगमंच में युग के इसी भाव-बोध को वाणी दी है।

'रेस्टोरेशन' रंगमंच का दर्शक-वर्ग एलिजाबीथन दर्शक से बिलकुल भिन्न था। चार्ल्स द्वितीय जब राज्य-गद्दी पर बैठा, तो रंगमंच जैसे उसके जीवन-विलास का मुख्य केन्द्र हो गया। रंगमंच का क्षेत्र सामान्य से विशिष्ट वर्ग के लिए हो गया। दर्शक-वर्ग सीमित हो गया। और इस युग ने ड्रामा को उस गम्भीरता से न ग्रहण किया, जिस तरह एलिजाबीथन युग ने किया था। यह केवल खेल और मनोरंजन मात्र रह गया। फैशन परेड की जगह यह हो गयी। यह मिलने-जुलने का बहाना हो गया। यह इसका फल हुआ कि इस युग का ड्रामा अथवा रंगमंच जीवन से कटकर स्वभावतः 'हाई' फैशनेबल सुखान्तकी के रूप में विकसित हुआ। 'कमेडी आफ मैनर्स' इसी युग-बोध की स्वाभाविक देन है।

इस तरह हर युग का दर्शक अपने सौन्दर्य-बोध के साथ रंगशाला में आता है, और स्वभावतः उसी की रुचि और जीवनी-शक्ति के अनुरूप उसके युग का रंगमंच बनता है।

●

# पाश्चात्य रंगमंचः इतिहास और परम्परा

पाश्चात्य रगमंच का प्रादुर्भाव यूरोप में सर्वप्रथम यूनान देश में हुआ—'थियेटर ऑफ डायोनिसस' के नाम से। यह रंगमंच अपने मूल में पूजा अथवा कर्मकाण्ड के रूप में उदित हुआ। प्राचीन यूनान के लोग अपने देवता 'डायोनिसस' का पूजन बड़े उल्लास और आस्था से करते थे। दूसरा देवता जिसका नाम 'वैक्स' भी था, शराब और उल्लास का देवता था, शारीरिक आनन्द और स्फूर्ति का देने वाला। हर तरह की चिन्ता और शोक को हरनेवाला था यह। इसका पूजन-समारोह वसन्त और शीत काल के दिनों में विशेष रूप से होता था, और यह नाट्य-पूजन देखना पवित्र धार्मिक कार्य समझा जाता था।

डायोनिसस की प्रतिष्ठा में जो कोरस अथवा समूह गान होते थे, उन्हीं से पश्चिम के ड्रामा का जन्म हुआ। ड्रामा—ट्रेजिडी—जिसका अर्थ है 'गोट साँग' क्योंकि उस पूजा-समारोह में बकरे की बलि दी जाती थी। ड्रामा—कामेडी का अर्थ है, ग्राम-गीत, जिसमें आमोद-प्रमोद की प्रधानता रहती थी। छठी शताब्दी ई० पू० में यूनान के थैसियस नामक व्यक्ति ने कोरस में एक परिवर्तन किया—उसमें वार्तालाप का समावेश।

आगे के ड्रामा-लेखकों ने इसमें कथा-तत्त्व डाला। फिर इसमें एक चरित्र, दो चरित्र और क्रमशः कोरस का रूप छोटा होता गया और पात्र बढ़ते गये।

ट्रेजिडी के प्रदर्शन के लिये एथेन्स में 'थियेटर ऑफ डायोनिसस' का निर्माण पाँच सौ ई० पू० में हुआ। यह एथेन्स के एक्रोपोलिस नामक पर्वत के चरणों में स्थित था (और आज तक है)। यह खुला हुआ प्रशस्त रंगमंच अर्धवृत्ताकार है। दर्शकों की सीटों की पंक्तियाँ एक के ऊपर एक चट्टानें काट-काटकर बनायी गयी हैं। मच पत्थर का बना है। और उसके पीछे एक ऊंची दीवार थी। दर्शकों की संख्या बीस हजार तक होती थी। मुख्य 'स्टेज' के मध्य में ठीक सामने एक नीचे अर्धवृत्ताकार स्टेज और होता था, जिसे आर्केस्ट्रा कहते हैं। इसके मध्य में बलिवेदी होती थी, जिसके चारों और नृत्य होते थे। इस वेदी के पास की सीटें संगमरमर की थीं, जो पुजारियों और न्यायाधीशों के लिये सुरक्षित होती थीं। वेदी के ठीक सामने डायोनिसस का पुजारी बैठता था। उसके दायीं ओर सूर्य

देवता एपोलो का पुजारी और बायीं ओर नगर-देवता 'ज्यूस पौलियस' का आसन होता था।

आर्केस्ट्रा के पीछे उठे हुए मंच की लम्बाई साठ-सत्तर फीट और गहराई पन्द्रह फीट होती थी। अभिनय-क्षेत्र नीचे-ऊपर की दोनों भूमियाँ होती थीं। ग्रीक कोरस पचास व्यक्तियों का था, जो क्रमशः कम होकर पन्द्रह का हो गया।

ग्रीक थियेटर का यह सारा प्रदर्शन रीतिबद्ध था। अभिनय, वस्त्र, रूप-सज्जा आदि सभी स्तरों से।

आस्काइलस (५२५ बी० सी०) ग्रीक ड्रामा का जनक माना जाता है। थैसियस से आगे बढ़कर इसी ने ड्रामा में द्वितीय चरित्र की प्रतिष्ठा की थी।

सोफोक्लीज (४९५ बी० सी०) ने ग्रीक ड्रामा में तृतीय चरित्र की स्थापना की, और इसकी रचना से ग्रीक रंगमंच अपनी चरमसीमा पर पहुँचा। 'यूरोपडीज' अंतिम उल्लेखनीय नाटककार हुआ, जिसने 'एलक्ट्रा' के माध्यम से अपने बड़े व्यक्तित्व का परिचय दिया।

दूसरी ओर 'ग्रीक कामेडी' की परम्परा है— जिसके उल्लेखनीय नाट्य-कार हैं—'अरिस्टोफीन' और 'मिनेन्दर'।

## रोमन थियेटर

रोमन रंगमंच का प्रारम्भ फॉर्स से होता है, जो 'फेबुला 'रतीलाना' के नाम से प्रसिद्ध है। वस्तुतः इसका संबंध रोम के दक्षिण में 'अतेला' नगर से है—जहाँ नाटक के इस प्रहसनात्मक रूप का श्रीगणेश मिलता है। इसमें मौलि-कता के स्थान पर टाइप चरित्रों के आधार पर भंड़ैती, प्रहसन, अभिनटन आदि के भोंडे रूप मिलते थे।

बाद में रोमन रंगमंच ग्रीक रंगमंच के प्रभाव को लेकर विकसित हुआ। इसकी रंगशाला का अधिक विस्तार हुआ। मंच का क्षेत्र बढ़ा। मंच अब तक खुला था, किन्तु रोमन-रंगभवन-कला की प्रकृति से स्पष्ट है कि मंच को ये लोग छतदार बनाना चाह रहे थे।

प्लेट्स (२५४ बी० सी०) पहला रोमन नाटककार था, जिसकी नाट्य-कला 'मिनेन्दर' से सीधे प्रभावित थी। केवल 'सिनेका' रोमीय लेखकों में वह उल्लेख-नीय नाम है, जिसने कुछ महत्वपूर्ण योग दिया। वस्तुतः उस समय रोमन राष्ट्र के सामने मूलतः राजनीतिक तथा साम्राज्यवादी प्रश्न थे, और जिन-जिन नियमों द्वारा रोमन समाज की शिक्षा-दीक्षा होनी चाहिये थी, उन्हीं का उपयोग

सिनेका ने अपने नाटकों में किया। उसने इस तरह एक विशेष प्रकार की सामाजिक तथा राजनीतिक नैतिकता का प्रसार-प्रचार अपने नाटकों में किया, जिसके कारण उसमें दुखान्तकी की आत्मा मर गयी। यह हीन दशा समूचे मध्य युग के पूर्वार्द्ध तक रही। दूसरी ओर धीरे-धीरे ईसाई पादरी इसके विरोधी होते गये, और उन्होंने नाटकों को पाप के प्रसार का साधन घोषित कर नाटककारों का स्थान बहुत तुच्छ सिद्ध किया। और इस तरह करीब तीन सौ वर्षों तक नाट्य-साहित्य की रचना नहीं हुई और यूरोप पर अंधकार युग पूर्ण-रूप से छा गया।

## मिडीवल थियेटर

मध्ययुग के उतरार्ध में नाटक को फिर से जीवन-दान मिला। क्रमशः ईसाई पादरियों का विरोध घटा और ईसाई धर्म के बिचारों तथा सिद्धान्तों के प्रचार के लिये फिर से नाटक और रंगमंच अपनाये गये। इस तरह प्रदर्शन की रंगभूमि गिर्जाघर हुआ। प्रारम्भ में जो नाटक गिर्जाघरों में खेले गये, वे ईसा के जीवन से संबन्ध रखते थे। ईसा का जन्म, उनकी ईश्वरीयता, उनके धर्मकार्य इन सब पक्षों पर प्रकाश डालकर नाटक जनता को धर्म की ओर अग्रसर करने का प्रयास करते थे। इसके पश्चात पादरियों ने ईसाई सन्तों की जीवनी के विषयों पर नाटक खेलने की अनुमति दी। वस्तुतः इन नाटकों में ड्रामा के कोई भी महत्वपूर्ण तत्त्व नहीं हैं, न उनमें कोई आकर्षण ही है।

मध्ययुगीन दुखान्तकी-रचनाकार के लिये किसी श्रेष्ठ और सम्पन्न मनुष्य का आकस्मिक भाग्य-परिवर्तन ही दुखान्तकी का आधार था। उनके बिचारों के अनुसार मनुष्य भाग्य के हाथों में खिलौना मात्र है।

किन्तु नाट्य-प्रदर्शन जैसे-जैसे लोकप्रिय हुआ, नाटक में से धीरे-धीरे धर्मतत्त्व कम होने लगा। बाइबिल की कथा से जनता ऊबकर दूसरी कथा की ओर भागी। कथा में प्रहसन के तत्त्व आने शुरू हुए। इसी समय वे रंग, जो कभी बहुत पहले चर्च द्वारा रंगमंच से बहिष्कृत किये गये थे, इस क्षेत्र में फिर वापस आ गये और अपने रंग-चमत्कारों से दर्शक का मन मोहने लगे। इस तरह से चमत्कार (मिरैकिल), नैतिकता (मोरैल्टीज) और रहस्य (मिस्ट्रीज), ये तीनों तत्त्व रंगमंच की प्रकृति के मूल स्वर बन गये। रहस्य-तत्त्व उन नाटकों में विशेष रूप से होता था, जो किसी संत के जीवन के आधार से रचित होते थे। नैतिकता-तत्त्व, मनुष्य को उपदेश देने वाले, तथा उसे चरित्रबोध देने वाले नाटकों में

मुख्य हुआ। 'मोरैल्टी प्ले' इस युग की नाट्यधारा की उल्लेखनीय प्रवृत्ति सिद्ध हुई। इसमें नाट्य-शिल्प, चरित्र-बोध, चरित्र-संघर्ष तथा स्वाभाविकता—इन तत्त्वों को विशेष आग्रह मिला। इन्हीं नाटकों में आगे चलकर छोटे-छोटे सामाजिक नाट्य-दृश्य (इन्टरल्यूड) मिलाये गये। इनसे रंगमंच क्षेत्र में सामाजिक यथार्थ तत्त्व की प्रतिष्ठा की दिशा में बहुत बल मिला। धीरे-धीरे इन मध्यांकियों (इन्टरल्यूड्स) का महत्त्व बढ़ने लगा। इनके प्रहसन-तत्त्व की ओर दर्शकों का आकर्षण सबसे ज्यादा बढ़ा। इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली और स्पेन—इन सभी देशों के रंगमंच की, इस काल में यही विशेषता थी।

इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप व्यवसायिकी रंगमंच के उदय का वातावरण साफ दिखने लगा।

## रिनेसाँ—नवजागरण काल

मध्ययुग समाप्त होने पर यूरोपीय नवजागरण का काल आरम्भ हुआ। पन्द्रहवीं शती के कुछ पूर्व से ही प्राचीन यूनानी तथा लैटिन पाण्डुलिपियों की खोज शुरू हुई, किन्तु १४५३ में कुस्तुंतुनियाँ पर तुर्कों का अधिकार होने के उपरान्त उसका क्रम बहुत तीव्र गति से आगे बढ़ा। सिसिरो, होरेस और क्विन्टिलियन आदि की रचनायें सामने आयीं। उनकी कृतियों का प्रभाव तो नवयुग पर पड़ा ही, किन्तु सबसे अधिक प्रभाव पड़ा, अरस्तू के काव्यशास्त्र का, जो अरब और सीरिया से पुनः प्राप्त किया गया। सन् १५६५ में ट्रेण्ड नामक स्थान पर एकत्र पादरियों की सभा ने अरस्तू के काव्यशास्त्र को वही महत्ता प्रदान की, जो ईसाई धर्म के नियमों को मिलती है।

पुनर्जागरण काल का यह 'क्लासकी' आन्दोलन इस तरह इटली से चलकर फ्रांस पहुँचा और इस तरह इसने यूरोप के प्रायः सभी सभ्य देशों में अपना प्रभाव डाला। इस तरह लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में इसी एक ही क्लासकी प्रभाव का स्वर उदित रहा। यहाँ तक, सत्रहवीं शताब्दी में फ्रान्सीसी काव्य-चिन्तन निरन्तर क्लासकी आदर्श की ओर झुकता गया। और अन्त में लगभग १६३६ के उपरान्त उसका वह रूप विकसित हुआ, जिसे 'नियोक्लासीसिज़्म' अर्थात् नवीन क्लासकी मत की संज्ञा मिली।

'रिनेसाँ' युग में भी मुख्यतः दुखान्तकी नाटक लिखे गये। उनमें मनुष्य को अंधनियति के अधीन न दिखाकर, मनुष्य के चरित्र के ही अधीन नियति को दिखाने की चेष्टाएँ की गयी हैं। मध्ययुगीन धार्मिक नाटकों के चरित्र में नैतिक

या धार्मिक दोष होना आवश्यक नहीं है—केवल असंगत, अयुक्तियुक्त, अनुचित कार्य करना ही उनके पर्याप्त दोष हो सकते हैं।

इससे भी आगे 'नियोक्लासकी' काल में फ्रांस में 'रासीन' और 'वालतेयर' के दुखान्तकी नाटक एक और भी नवीन दृष्टिकोण से लिखे जाने लगे, जिनमें नायक को कृत्रिम रूप से उदात्त, महामना और तेजस्वी बनाकर, प्रेम और कर्तव्य दोनों ही महान् आदर्शों के बीच पिसते हुए दिखाकर 'करुणा' भाव उत्पन्न किया गया। अर्थात् चरित्र-दोष से ही करुण-भाव का उदय दिखाया गया।

किन्तु रंगमंचीय महत्त्व के स्तर पर फ्रांस में अब तक, फिर भी कुछ उल्लेखनीय न हो सका। जबकि सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध बीत रहा था। वस्तुतः यह उल्लेखनीय यश मिला स्पेन को। 'लोप' (१६हवीं सदी) और कैल्डेरॉन उस समय स्पेनिश रंगमंच के महान् नाट्यकार उदित हुए। इन दोनों के व्यक्तित्व और रचनाशक्ति से रंगमंच का स्तर इतना ऊँचा उठा कि उसी के सहारे एलिजाबीथन रंगमंच का धरातल सहज ही ऊँचा उठ गया। इंग्लैण्ड के लिए वस्तुतः यह बड़े सौभाग्य की बात थी।

## एलिजाबीथन थियेटर

इंग्लैण्ड के सांस्कृतिक इतिहास में सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध अप्रतिम है। १६०० ई० से लेकर १६४२ तक के बीच में शेक्सपियर, चापमैन, डेकर, जान्सन, मैसिन्जर, मिडिल्टन, वेबेस्टर, फोर्ड और शेर्ले जैसी प्रतिभाओं ने इस काल को अमर बना दिया। इतिहास में यह काल महारानी एलिजाबेथ से लेकर विलियम और 'मेरी' तक फैला है।

नाट्य-प्रकृति और परम्परा-बोध के रूप में एलिजाबीथन रंगमंच पहले चरण में जनता का रंगमंच था। हर वर्ग के स्त्री-पुरुष इस युग की रंगशाला में इकट्ठे होते थे। नोबुल, लार्ड से लेकर सामान्य स्त्री-पुरुष तक। इसका फल नाटककार पर यह हुआ कि वह नीचे से ऊपर तक समाज के सभी स्तरों को ध्यान में रखकर अपनी रचना करता था।

'ग्लोब थियेटर' इस युग के रंगमंच की प्रकृति का सच्चा दर्पण है—जिसके रंग-तत्त्वों में एक ओर 'प्लेटफार्म स्टेज' के तत्त्व हैं, तथा दूसरी ओर अनेक मध्ययुगीन नाट्य-धर्मितायें कार्यरत हैं। उसी 'ग्लोब थियेटर' के ही मानचित्र के आधार पर उस समय की सभी रंगशालायें बनीं।

'एलिजाबीथन' रंगमंच में मुख्यतः दो प्रकार की नाट्य-परम्परायें कार्य कर रही थीं, पहली—'पब्लिक थियेटर' की, दूसरी 'प्राइवेट थियेटर' की। चार्ल्स द्वितीय के शासन-काल में यही दूसरी धारा अपेक्षाकृत अधिक प्रबल हुई थी। इसके मंच में दृश्य-सज्जा, प्रकाश आदि की प्रतिष्ठा हुई, तथा उसमें मुक्त आकाशी मंच के स्थान पर बंद मंच की परम्परा शुरू हुई।

किन्तु आगे चलकर एलिजाबीथन रंगमंच में सामान्य जनता के स्थान पर राज-दरबार और शाही घराने के लोग भरते गये। इसका फल यह हुआ कि नाटक और रंगमंच में सर्वथा नया संस्कार और नया स्वर उभरा। इसमें सबसे प्रमुख स्वर था उस समय के जीवन और परिस्थिति को नाटक में अभिव्यक्ति देना।

इस युग के रंगमंच और नाटकों की मुख्य प्रवृत्ति थी :

(१) शेक्सपीरियन दुखान्तकी।

(२) रोमान्टिक सुखान्तकी तथा

(३) ट्रेजिडी-कामेडी के सम्मिलन की।

एलिजाबीथन युग का रंगमंच मूलतः शेक्सपियर का रंगमंच था। शेक्सपियर के सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य में इस युग के रंगमंच की सारी प्रकृति और रंग-परम्परायें बड़े गहन रूप में प्राप्त हैं। ग्रीक थियेटर के बाद यह दूसरा एलिजाबीथन थियेटर ही है जिसके रंगमंच-सिद्धान्त और नाट्य-उपलब्धियाँ संसार में इतनी महिमामय सिद्ध हुईं।

## फ्रेंच क्लैसिकल धारा

प्रायः शेक्सपियर के समय में ही फ्रांस में एलक्जेन्ड्री हार्डी नामक नाटककार उदित हुआ। किन्तु इस युग का पहला महत्त्वपूर्ण व्यक्ति 'पेरे कोर्नील' (१६०४-१६८४) हुआ, जिसने फ्रेंच रंगमंच में एक नया जागरण पैदा किया। 'ले सिड' उसका महत्त्वपूर्ण नाटक है। रोमन कथावस्तु पर आधारित दो दुखान्तकी 'होरेस' (१६४०) तथा 'सिना' (१६४१) भी उल्लेखनीय हैं।

इस धारा का सबसे महत्त्वपूर्ण नाटककार मोलियर (१६२२-१६७३) हुआ जिसके व्यक्तित्व में शायद पहली बार नाटककार, निर्देशक और अभिनेता के तीनों व्यक्तित्व एकीकृत हुए। मोलियर द्वारा सुखान्तकी की परम्परा में मूलतः नया स्वर, नया स्तर और सर्वथा नये रंगमंच का बोध जगा। इसने कहा—'सुखान्तकी का मुख्य ध्येय आनन्द द्वारा शिक्षा-प्रदान तथा सुधार है। सुखान्तकी,

व्यक्ति-विशेष पर आधारित न होकर समाज-विशेष अथवा वर्ग-विशेष पर आधारित रहती है।'

(टार्टफ)

दूसरी ओर 'कार्निले' और 'रेसीन' मूलतः नाटककार के रूप में कवि थे। और उस युग की फ्रेंच क्लैसिकल धारा के यशस्वी व्यक्तित्व थे।

इन सारी नाट्य-उपलब्धियों की चरमसीमा थी १६८६ ई० में 'कोमेदिया फ्रांसे' की पेरिस में स्थापना—जिसमें अनेक रंग-धाराओं तथा नाट्य-मंडलियों का सहज संगम सिद्ध हुआ।

## रेस्टोरेशन थियेटर

पश्चिम के रंगमंच-इतिहास और परम्परा-अध्ययन में, आधुनिक युग से पूर्व-काल तक में 'रेस्टोरेशन' थियेटर को लेना होगा। चार्ल्स द्वितीय का राज-सिंहासन पर लौटना और उसकी रंगमंच-प्रियता तथा संरक्षण इन सभी तत्त्वों का हाथ 'रेस्टोरेशन' में है। इस काल की मुख्य रंग-परम्पराओं में :

(१) सुखान्तकी (रेस्टोरेशन कामेडी)

(२) हिरोइक ड्रामा

ये दोनों नाट्य-प्रवृत्तियाँ उल्लेखनीय हैं। 'निकोलस रोवे' इस काल का अन्तिम नाटककार था।

रेस्टोरेशन रंगमंच के अन्तिम चरण से ही पश्चिम के रंगमंच में इस सत्य के लक्षण मिलने लगे, कि रंगमंच की दिशा मूलतः यथार्थवाद और उससे प्राप्त नये युग की ओर मुड़ने जा रही है। रंगमंच का वास्तविक संरक्षक अब राजा न होकर समाज का सर्वथा नया वर्ग होने जा रहा है—नागरिक, साहूकार, उदीयमान मध्यवर्ग।

वस्तुतः इसी नये वर्ग ने, दर्शक-भाव से लेकर विषय-वस्तु और यथार्थ-बोध तक पश्चिम के रंगमंच को प्रभावित किया। और इसी महा प्रभाव से आगे उदित हुआ पश्चिम का आधुनिक रंगमंच।

OOO

## ग्रंथ में प्रयुक्त कुछ विशिष्ट अंग्रेज़ी-हिन्दी

### पारिभाषिक शब्दावली

| | |
|---|---|
| Accent | स्वराघात |
| Alienation | भाव निरपेक्षता |
| Amphitheatre | रंगवाट |
| Appearance | अवतरण |
| (Theatre) Architecture | रंग स्थापत्य |
| Arena | रंगस्थली |
| Aside | जनान्तिक |
| Auditorium | प्रेक्षागृह |
| Ballet | बैले |
| Business (Stage) | रंगचर्या |
| Stage Action | रंग व्यापार |
| Character ensemble | पात्र समूहन |
| Coherence | संगति |
| Cast | पात्र |
| (Supporting) | सहपात्र |
| Catastrophe | प्रकर्ष |
| Character | चरित्र |
| (Stock) | रूढ़ चरित्र |
| Choreographic | नृत्यपरक |
| Choral comedy | सुखान्तकी |
| Composition | संरचना |
| (Pictorial) | चित्रवत |
| Complication | संकट |
| Convention | रूढ़ि |
| Crisis | संघर्ष |
| Cyclorma | गगनिका |

| | |
|---|---|
| Denouement | निर्वहण |
| Dancing circle | नृत्य परिधि |
| Dimension | आयाम |
| Discovery | अन्वेषण |
| Duration | समय |
| Dramatic material | नाट्य वस्तु |
| Exposition | उद्‌घाटन |
| Expressionism | अभिव्यंजनावाद |
| Farce | प्रहसन |
| Formalism | रूपवाद |
| Foreshadowing | पूर्वछाया |
| Functional | कार्यमूलक |
| Grouping | समूहन |
| Harmony | संगति |
| Illusion | सत्याभास |
| Illusionistic | सत्याभासी |
| Impersonation | पररूपण |
| Improvisation | अनुरचना |
| Interlude | मध्यांकी |
| Level | धरातल |
| Make-belief | प्रतीति-छल |
| Make-up | रूपसज्जा, रूपसिंगार |
| Mask | मुखौटा |
| Masking | आच्छादन |
| Melodrama | अतिनाटक |
| Mime | बिडंवन, नकल |
| Modulation | उतार-चढ़ाव |
| Motivated | हेतुपूर्ण |
| Motivation | हेतु |
| Movement | गतिसंचार |
| Magic | जादू, इन्द्रजाल, सम्मोहन |
| Multiple Stage | बहुधरातली मंच (बहुदृश्यी) |
| Naturalism | प्रकृतवाद |
| Offstage | नेपथ्य |

| | |
|---|---|
| Open Air Theatre | खुला रंगमंच |
| Operatic | संगीतधर्मी |
| Orchestration | स्वर संगति |
| Over Acting | अतिरंजित अभिनय |
| Pageant | पेजेन्ट, चौकी |
| Pantomime | अभिनटन |
| Performance | अनुष्ठान, प्रदर्शन, प्रयोग |
| Pitch | तारत्व |
| Pose | भंगिमा |
| Point of attack | आक्रमण बिन्दु |
| Posture | देहभंगी |
| Presentation | उपस्थापन |
| Presentational | भावधर्मी |
| Production | प्रस्तुतिकरण, प्रदर्शन, प्रयोग, प्रस्तुति |
| Prologue | प्रस्तावना |
| Prop | उपकरण |
| Proscenium Arch | रंगद्वार |
| Projection | प्रक्षेपण |
| Pictorial | चित्रात्मक |
| Picture frame | चित्रबंध |
| Perspective | परिप्रेक्ष्य |
| Panoramic Movement | दृश्यवत, दृश्यांकित गतिसंचार |
| Representation | प्रतिनिधान |
| Representational | सादृश्यमूलक |
| Ritual | धर्मकांड, कर्मकांड |
| Rooed Canopy | मंडप |
| Sequence | अनुक्रम |
| Set | दृश्यबंध |
| Setting | दृश्यसज्जा |
| Spectacle | दृश्यता |
| Speech | वाक् |
| Stage | मंच |
| Stage Design | मंचांकन |
| Stage Direction | मंचनिर्देशन |

| | |
|---|---|
| Stage Technician | मंचशिल्पी |
| Stage Down | रंगपीठ |
| Stage Up | रंगशीर्ष |
| Stage Wagon | यानमंच, वाहनमंच |
| Stress | बलाघात |
| Style | रीति |
| Stylized | रीतिधर्मी |
| Synchronization | एकान्वय |
| Tempo | गति |
| Theatre | रंगमंच |
| Theatre Arts | रंगमंच कलाएँ |
| Theatre Folk | लोक रंगमंच |
| Theatre Open Air | मुक्ताकाशी, खुला रंगमंच |
| Theatre Professional | पेशेवर, व्यवसायी |
| Tone | स्वरक |
| Tragedy | दुखान्तकी |
| Up Stage | रंगशीर्ष |
| Unity | अन्विति |
| Volume | घनत्व |
| Well made play | सुवद्धनाटक |
| Wing | पार्श्व |

●

